सहाबियात (रज़ि॰) के हालात

भाग-1

तालिब हाशिमी
अनुवाद
नुज़हत यासमीन

विषय-सूची

	दो शब्द	5
1.	हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०)	7
2.	हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०)	12
3.	हज़रत सफ़ीया-बिन्ते-अब्दुल-मुत्तलिब (रज़ि०)	23
4.	हज़रत सुमैया-बिन्ते-ख़िबात (रज़ि०)	34
5.	हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०)	38
6.	हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि०)	44
7.	हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०)	77
8.	हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस ख़सअमीया (रज़ि०)	93
9.	हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-अब्दुल्लाह (रज़ि०)	107
10.	हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल लुबाबतुल-कुबरा (रज़ि०)	113
11.	हज़रत उम्मे-शरीक दौसिया (रज़ि०)	119
12.	हज़रत सअूबा-बिन्ते-हज़रमी (रज़ि०)	122
13.	हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-औफ़ (रज़ि०)	123
14.	हज़रत रमला-बिन्ते-अबू-औफ़ सहमीया (रज़ि०)	123
15.	हज़रत ज़िन्नीरा रूमिया (रज़ि०)	124
16.	हज़रत लबीना (रज़ि०)	126

17. हज़रत उम्मे-उबैस (रज़ि०) 126

18. हज़रत हुमामा (रज़ि०) 127

19. हज़रत नहदीया (रज़ि०) और उनकी बेटी 127

20. हज़रत उम्मे-माबद ख़ुज़ाइया (रज़ि०) 127

21. हज़रत ख़नसा-बिन्ते-अम्र (रज़ि०) 133

22. हज़रत उमैया ग़िफ़ारिया (रज़ि॰) 150

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

(अल्लाह के नाम से जो बड़ा ही मेहरबान और रहम करनेवाला है)

दो शब्द

इस्लाम की सरबुलन्दी और इस्लाम को फैलाने में सहाबा किराम (रज़ि०) का क्या रोल रहा? इस्लाम को सारी दुनिया में फैलाने के लिए उन्होंने कैसी-कैसी क़ुरबानियाँ दीं? इस बारे में जानकारी हासिल करनी हो तो बहुत सी किताबें मौजूद हैं। इन किताबों को पढ़कर आसानी से सहाबा किराम (रज़ि०) की ज़िन्दगी के हालात तफ़सील के साथ मालूम किए जा सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ हम सहाबियात (रज़ि०) की बात करें तो बहुत कम सहाबियात (रज़ि०) की ज़िन्दगी के हालात की जानकारी मिल पाती है और यह जानकारी भी बहुत महदूद शक्ल में मौजूद है।

आज उर्दू के साथ हिन्दी में भी इस तरह की किताबों की कमी बहुत महसूस की जा रही है। उर्दू में इस कमी को तालिब हाशिमी साहब की किताब "तज़कारे सहाबियात" बहुत हद तक पूरा करने का काम करती है। इस किताब में दो सौ से भी ज़्यादा सहाबियात (रज़ि०) की ज़िन्दगियों के हालात सिर्फ़ दर्ज ही नहीं किए गए हैं बल्कि ज़्यादा-से-ज़्यादा तफ़सील देकर उनके किरदार को पूरी तरह उभारने और लोगों के सामने पेश करने की कामयाब कोशिश की गई है। तालिब हाशिमी साहब की किताब से सहाबियात (रज़ि०) की शख़्सियत का हर पहलू रौशन हो जाता है। उनकी बहादुरी, उनके बुलन्द हौसले, उनके ईमान की मज़बूती, उनकी नबी (सल्ल०) से निहायत अक़ीदत व मुहब्बत, जाँनिसारी का जज़्बा जैसी तमाम ख़ासियतें सामने आ जाती

हैं। 'तज़कारे सहाबियात' जैसी किताब का फ़ायदा हिन्दी जाननेवालों को मिल सके इसके लिए इसका हिन्दी तर्जमा करने का फ़ैसला लिया गया। उर्दू में यह एक मोटी किताब है लेकिन हिन्दी में इसको कई हिस्सों में विभाजित किया जा रहा है। इसी कड़ी में "प्यारे नबी (सल्ल०) की पाक बीवियाँ" और "प्यारे नबी (सल्ल०) की प्यारी बेटियाँ" पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं। अब जो किताब "सहाबियात के हालात" आपके हाथों में है वह इसी सिलसिले की कड़ी है। इसके तीन भाग हैं। इस किताब को हिन्दी जाननेवालों की ज़रूरत का ध्यान रखते हुए तैयार किया गया है। किताब को तैयार करते वक्त आसान और समझ में आनेवाली हिन्दी का इस्तेमाल किया गया है।

हमें उम्मीद है ये किताबें हिन्दी जाननेवालों के लिए फ़ायदेमन्द साबित होंगी।

इन किताबों लागों और जगहों वग़ैरा के नाम का उच्चारण सही और दुरूस्त हो इसकी पूरी कोशिश की गई है। फिर भी पाठकों से निवेदन है कि वे नामों के बारे में इत्मीनान हासिल करने के लिए दूसरी एसी किताब जरूर देख लें जिस में इस बारे में रहनुमाई की गई हो।

आपका कोई मशवरा हो या कोई गलती नज़र आए तो हमें ज़रूर बताएँ ताकि अगले एडीशन में उस पर विचार हो सके।

ख़ुदा हमारी इस कोशिश को क़बूल फ़रमाए! आमीन!

नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
सेक्रेट्री
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट(दिल्ली)

हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०)

नबी (सल्ल०) की हिजरत के चार-पाँच साल बाद का वाक़िआ है, एक दिन नबी (सल्ल०) एक अफ़सोसनाक ख़बर सुनकर बहुत उदास और ग़मगीन हो गए और आपकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। यह खबर एक ख़ातून के इन्तिक़ाल की थी। आप (सल्ल०) तुरन्त मरनेवाले के घर तशरीफ़ ले गए और इन्तिक़ाल करनेवाली ख़ातून के सिरहाने खड़े होकर फ़रमाया—

"ऐ मेरी माँ, अल्लाह आप पर रहम करे! आप मेरी माँ के बाद माँ थीं। आप ख़ुद भूखी रहती थीं मगर मुझे खिलाती थीं, आपको ख़ुद लिबास की ज़रूरत होती थी लेकिन आप मुझे पहनाती थीं।"

इसके बाद नबी (सल्ल०) ने उनके घरवालों को अपनी कमीज़ दी और फ़रमाया कि इन्हें मेरी कमीज़ का कफ़न पहनाओ।

फिर नबी (सल्ल०) ने उसामा-बिन-ज़ैद (रज़ि०) और हज़रत अबू-अय्यूब अंसारी (रज़ि०) को हुक्म दिया कि जन्नतुल-बक़ीअ में जाकर क़ब्र खोदें। जब वे क़ब्र का ऊपरी हिस्सा खोद चुके तो नबी (सल्ल०) ख़ुद नीचे उतरे और अपने मुबारक हाथों से क़ब्र खोदी और ख़ुद ही उसकी मिट्टी निकाली। जब यह काम हो गया तो आप (सल्ल०) क़ब्र के अन्दर लेट गए और दुआ माँगी—

"ऐ अल्लाह, मेरी माँ की मग़फ़िरत फ़रमा और इनकी क़ब्र को कुशादा कर दे!"

यह दुआ माँगकर नबी (सल्ल०) क़ब्र से बाहर निकले तो आपकी आँखों से आँसू बह रहे थे और आपने ग़म की शिद्दत से

अपनी मुबारक दाढ़ी हाथों में पकड़ रखी थी।

ये ख़ुशक़िस्मत और बुलन्द मर्तबा ख़ातून जिनसे नबी (सल्ल०) को ऐसा गहरा लगाव और प्यार था, हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) थीं।

हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) की गिनती बुलन्द मर्तबा सहाबियात में होती है। वे क़ुरैश के सरदार हाशिम-बिन-अब्दे-मनाफ़ की पोती, अब्दुल-मुत्तलिब की भतीजी और बहू, अबू-तालिब की बीवी, नबी (सल्ल०) की चची और समधन, हज़रत जाफ़र-बिन-अबू-तालिब (रज़ि०) जो मुअता में शहीद हुए, और हज़रत अली (रज़ि०) की माँ और ख़ातूने-जन्नत हज़रत फ़ातिमा ज़हरा (रज़ि०) की सास थीं। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के बाप असद-बिन-हाशिम नबी (सल्ल०) के दादा अब्दुल-मुत्तलिब के सौतेले भाई थे।

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने क़ुरैश के इज़्ज़तदार घराने बनू-हाशिम में आँखें खोलीं और पली बढ़ीं। बयान किया जाता है कि वे बचपन से ही बड़ी अच्छी आदतों और ख़ूबियों की मालिक थीं। इसलिए अब्दुल-मुत्तलिब ने उन्हें अपनी बहू बनाने का फ़ैसला कर लिया और अपने बेटे अब्दे-मनाफ़ (अबू-तालिब) से उनका निकाह कर दिया। इनसे अल्लाह ने उन्हें चार बेटे और तीन बेटियाँ दीं। लड़कों के नाम तालिब, अक़ील, (रज़ि०), जाफ़र (रज़ि०) और अली (रज़ि०) थे। लड़कियों के नाम उम्मे-हानी, (असली नाम फ़ाख़्ता, हिन्द या फ़ातिमा था) जुमाना (रज़ि०) और रबता था। अल्लामा इब्ने-अब्दुल-बर (रह०) लिखते हैं कि "ये पहली हाशिमी ख़ातून हैं जिनसे हाशिमी औलाद पैदा हुई।" हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) शेरो-शायरी में भी दिलचस्पी रखती थीं।

नुबूवत के बाद जब नबी (सल्ल०) ने लोगों को इस्लाम की दावत देनी शुरू की तो बनू-हाशिम ने नबी (सल्ल०) का सबसे ज़्यादा साथ दिया। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के बेटे हज़रत अली (रज़ि०) तो इस्लाम क़बूल करनेवाले पहले नौजवान लड़के थे। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) भी बिलकुल शुरू में ही इस्लाम की फ़रमाबरदारी में आ गई थीं। कुछ मुद्दत बाद उनके दूसरे बेटे हज़रत जाफ़र (रज़ि०) भी इस्लाम के जाँबाज़ों में शामिल हो गए। अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) बयान करते हैं कि एक दिन नबी (सल्ल०) हज़रत अली (रज़ि०) के साथ नमाज़ पढ़ रहे थे, अबू-तालिब ने उन्हें देखा तो हज़रत जाफ़र (रज़ि०) से फ़रमाया, "बेटे तुम भी अपने चचेरे भाई के साथ खड़े हो जाओ।"

हज़रत जाफ़र (रज़ि०) नबी (सल्ल०) के बाएँ तरफ़ खड़े हो गए। इबादत में उन्हें ऐसा लुत्फ़ आया कि उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया।

अबू-तालिब, हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०), हज़रत अली (रज़ि०) और हज़रत जाफ़र (रज़ि०) सब नबी (सल्ल०) से बहुत मुहब्बत करते थे। अब्दुल-मुत्तलिब के इन्तिक़ाल के बाद अबू-तालिब और उनकी बीवी फ़ातिमा (रज़ि०) ने जिस मुहब्बत और लगाव से नबी (सल्ल०) की सरपरस्ती की और बुरे हालात में भी जिस तरह आप (सल्ल०) का साथ दिया और आप (सल्ल०) की हिफ़ाज़त की, तारीख़ में इसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती।

नुबूवत के बाद जब मुसलमानों पर क़ुरैश के मुशरिकों का ज़ुल्म सारी हदें पार कर गया तो नबी (सल्ल०) ने मुसलमानों को हबशा की तरफ़ हिजरत करने की इजाज़त दे दी। सन् 5 और 6 नबवी में मुसलमानों के दो क़ाफ़िले मक्का को छोड़कर हबशा चले गए। इन

मुहाजिरों में हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के बेटे हज़रत जाफ़र (रज़ि०) और उनकी बीवी असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) भी थीं। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने बड़े सब्र और हौसले से अपने बेटे और बहू की जुदाई सहन की।

सन् 7 नबवी में क़ुरैश के मुशरिकों ने यह फ़ैसला किया कि जब तक बनू-हाशिम और बनू-मुत्तलिब मुहम्मद (सल्ल०) को क़त्ल के लिए उनके हवाले नहीं करेंगे, कोई भी उनसे किसी तरह का रिश्ता नहीं रखेगा। न उन्हें कोई चीज़ बेची जाएगी, न उनसे शादी-ब्याह किया जाएगा। इस फ़ैसले को लिखा गया और हर क़बीले के नुमाइंदे (प्रतिनिधि) ने इसपर दस्तख़त किए या अँगूठा लगाया फिर उसे काबा के दरवाज़े पर लगा दिया गया। अबू-तालिब को इस फ़ैसले की ख़बर मिली तो वे बनू-हाशिम और उनके भाई मुत्तलिब की तमाम औलाद और नौकर-चाकरों को साथ लेकर अपनी एक घाटी में चले गए और वहाँ पनाह ले ली। सिर्फ़ अबू-लहब और उसके मातहत कुछ हाशिमियों ने मुशरिकों का साथ दिया। बनू-हाशिम और बनू-मुत्तलिब लगातार तीन सालों तक उस घाटी में मुसीबतें और परेशानियाँ झेलते रहे। इस घेराबन्दी में हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) भी थीं। उन्होंने अपने ख़ानदानवालों के साथ बड़ी हिम्मत और सब्र से इस मुसीबत को बरदाश्त किया।

सन् 10 नबवी में नबी (सल्ल०) के चचा अबू-तालिब का इन्तिक़ाल हुआ तो नबी (सल्ल०) की सरपरस्ती की ज़िम्मेदारी हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने उठा ली। वे अपने बेटों से भी ज़्यादा आप (सल्ल०) पर मेहरबान थीं।

जब मुसलमानों को मदीना की हिजरत का हुक्म मिला तो हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) भी हिजरत करके मदीना तशरीफ़ ले गईं।

हिजरत के मौक़े पर उनके बेटे हज़रत अली (रज़ि०) को यह ख़ुशनसीबी हासिल हुई कि नबी (सल्ल०) उन्हें अपने बिस्तर पर सुलाकर हिजरत के सफ़र पर निकले।

नबी (सल्ल०) के मदीना आने के दो या तीन साल बाद हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) के बेटे हज़रत अली (रज़ि०) का निकाह नबी (सल्ल०) की प्यारी बेटी हज़रत फ़ातिमा ज़हरा (रज़ि०) से हुआ। इस मौक़े पर हज़रत अली (रज़ि०) ने अपनी माँ से कहा—

> "मैं फ़ातिमा-बिन्ते-रसूलुल्लाह के लिए पानी भरूँगा और बाहर का काम करूँगा और वे आपकी चक्की पीसने और आटा गूँधने में मदद करेंगी।"

नबी (सल्ल०) को हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) से बड़ी मुहब्बत थी। आप (सल्ल०) अक्सर उनसे मिलने के लिए तशरीफ़ ले जाते और उनके घर आराम फ़रमाते। नबी (सल्ल०) ने कई बार उनकी मुहब्बत, शराफ़त और अच्छी आदतों की तारीफ़ की है। दुर्रे-मंसूर में है—

> "यही फ़ातिमा हैं जिनकी ख़ूबियाँ सीरत की किताबों में लिखी हैं।"

हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) का इन्तिक़ाल हिजरत के कुछ सालों बाद नबी (सल्ल०) की ज़िन्दगी में ही हुआ। नबी (सल्ल०) को उनके इन्तिक़ाल का बहुत ग़म हुआ। आप (सल्ल०) ने अपनी क़मीज़ उतारकर कफ़न के लिए दी और दफ़न करने से पहले ख़ुद क़ब्र में लेट गए। लोगों को इसपर हैरत हुई तो आप (सल्ल०) ने फ़रमाया—

> "अबू-तालिब के बाद इनसे ज़्यादा मेरे साथ किसी ने

मेहरबांनी नहीं की। मैंने उनको अपनी क़मीज़ इसलिए पहनाई कि जन्नत में उन्हें हुल्ला (जन्नत का लिबास) मिले और क़ब्र में इसलिए लेटा कि क़ब्र की सख़्तियों में आसानी हो।"

एक रिवायत में यह भी है कि इस मौक़े पर नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया कि अल्लाह तआला ने सत्तर हज़ार फ़रिश्तों को फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) पर दुरूद पढ़ने का हुक्म दिया है।

हज़रत अली (रज़ि०) और हज़रत जाफ़र (रज़ि०) के अलावा हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-असद (रज़ि०) के बेटे अक़ील (रज़ि०) और बेटियों में उम्मे-हानी और जुमाना (रज़ि०) को भी इस्लाम क़बूल करने की ख़ुशनसीबी हासिल हुई। रबता के हालात का पता नहीं चलता।

जिस ख़ातून को नबी (सल्ल०) की क़मीज़ का कफ़न मिला हो और जिसकी आख़िरी आरामगाह को नबी (सल्ल०) के मुबारक जिस्म ने छुआ हो उसके बुलन्द मर्तबे का कौन अन्दाज़ा कर सकता है!

हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०)

नबी (सल्ल०) तमाम दुनियावालों के लिए रहमत बनकर आए। आप (सल्ल०) अरब की इस्लामी हुकूमत के मुन्तज़िम (व्यवस्थापक) भी थे और तमाम इनसानों की भलाई चाहनेवाले भी। आप (सल्ल०) की रहमत और शफ़क़त लोगों पर घटा बनकर बरसती रहती थी। कोई माँगनेवाला आए और ख़ाली हाथ पलट जाए, यह मुमकिन ही नहीं था। ग़रीब, बेकस आते और अपनी ज़रूरत पूरी करके लौटते।

एक दिन गहरे साँवले रंग की एक ख़ातून जिनके चेहरे पर कुछ अजीब क़िस्म का रोब और रौनक़ थी, बड़ी मतानत (वक़ार) के साथ नबी (सल्ल०) की मजलिस में आईं। उन्हें देखते ही नबी (सल्ल०) सम्मान के लिए खड़े हो गए और बड़ी इज़्ज़त व एहतिराम के साथ उन्हें बैठाया। फिर आप (सल्ल०) ने उनसे पूछा, "अम्मी आज कैसे तकलीफ़ फ़रमाई?"

ख़ातून : "ऐ अल्लाह के रसूल! मुझे एक ऊँट की ज़रूरत है, यही माँगने आई हूँ।"

नबी (सल्ल०) : "ऊँट का आप क्या करेंगी?"

ख़ातून : "ऐ अल्लाह के रसूल! आज-कल हमारे पास सवारी का कोई जानवर नहीं है, न गधा न ऊँट। कभी दूर के सफ़र में जाना हो तो बड़ी मुश्किल होती है।"

नबी (सल्ल०) : (मुस्कुराते हुए) "अच्छा, तो ऊँट का एक बच्चा आपको दे देता हूँ।"

ख़ातून : "ऐ हे, मेरे माँ-बाप आप पर क़ुरबान, ऊँट के बच्चे का मैं क्या करूँगी? मुझे तो ऊँट चाहिए, ऊँट।"

नबी (सल्ल०) : "मैं तो आपको ऊँट का बच्चा ही दूँगा।"

ख़ातून : "ऊँट का बच्चा भला मेरे किस काम का? वह तो मेरा बोझ भी नहीं उठा सकेगा। मुझे तो ऊँट ही दे दीजिए।"

नबी (सल्ल०) : "आपको ऊँट का बच्चा ही मिलेगा और मैं उसी पर आपको सवार कराऊँगा।"

यह फ़रमाकर नबी (सल्ल०) ने एक ख़ादिम को इशारा किया।

वह थोड़ी देर में एक सेहतमन्द, जवान ऊँट ले आए और उसकी नकेल ख़ातून के हाथ में थमा दी।

नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "अम्मी देखिए तो! यह ऊँट ही का बच्चा है या कुछ और?"

अब वे ख़ातून नबी (सल्ल०) के मज़ाक़ का मक़सद समझ सकीं, बेइख़्तियार हँस पड़ीं और दुआएँ देने लगीं। मजलिस में मौजूद लोग भी ख़ुशी से खिल उठे। ये ख़ातून जिनकी नबी (सल्ल०) इतनी इज़्ज़त करते थे और कभी-कभी उनसे इस तरह हँसी की पाकीज़ा बातें भी कर लेते थे, हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) थीं।

हज़रत उम्मे-ऐमन का नाम बरका उर्फ़ उम्मे-ज़िबा था। उनके बाप का नाम सअलबा-बिन-अम्र था। वे हबशा के रहनेवाले थे। वे मक्का कब और कैसे पहुँचे, सीरत-निगारों ने इसे वाज़ेह नहीं किया है। लेकिन यह बात साबित है कि वे नबी (सल्ल०) की पैदाइश से पहले बड़ी हो चुकी थीं और बचपन से ही नबी (सल्ल०) के बाप अब्दुल्लाह-बिन-अब्दुल-मुत्तलिब के साथ कनीज़ के तौर पर रहती थीं। जब अब्दुल्लाह का इन्तिक़ाल हो गया तो वे नबी (सल्ल०) की माँ आमिना की ख़िदमत करने लगीं। नबी (सल्ल०) की पैदाइश के वक़्त आमिना की देखभाल और ख़िदमत उन ही के ज़िम्मे थी। नबी (सल्ल०) ने पाँच या छः साल तक हज़रत हलीमा सादिया (रज़ि०) के पास परवरिश पाई। उसके बाद हज़रत हलीमा (रज़ि०) ने आप (सल्ल०) को उनकी माँ के सुपुर्द कर दिया। कुछ मुद्दत के बाद आमिना नन्हे मुहम्मद (सल्ल०) और हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) के साथ यसरिब (मदीना) चली गईं। मानो यसरिब (मदीना) की ज़मीन को नबी (सल्ल०) के क़दमों से सम्मानित होने का सौभाग्य उसी वक़्त हासिल हो गया था जब आप (सल्ल०) की उम्र सिर्फ़ छः

साल थी। यसरिब में आमिना बनू-नज्जार के यहाँ ठहरीं, जो कि नबी (सल्ल०) के दादा का ननिहाल था। उन्होंने यसरिब में एक महीना गुज़ारा फिर नन्हे मुहम्मद (सल्ल०) और उम्मे-ऐमन (रज़ि०) के साथ मक्का की तरफ़ लौटीं। जब 'अबवा' नामी जगह पर, जो मक्का और मदीना के बीच में है, पहुँचीं तो अचानक बीमार हो गईं और वहीं उनका इन्तिक़ाल हो गया। परदेस में आमिना की अचानक मौत से नन्हे मुहम्मद (सल्ल०) और उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को बहुत सदमा हुआ। लेकिन उम्मे-ऐमन (रज़ि०) ने बड़े सब्र और हौसले से काम लिया, उन्होंने आमिना को वहीं दफ़न किया और नबी (सल्ल०) को बड़ी मुहब्बत से अपने साथ लेकर आँसू बहाती मक्का पहुँचीं।

अब्दुल-मुत्तलिब ने आमिना के यतीम को अपनी सरपरस्ती में ले लिया और उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को आप (सल्ल०) की परवरिश और देखभाल की ज़िम्मेदारी सौंप दी।

अल्लामा इब्ने-साद (रह०) का बयान है कि आमिना और नन्हे मुहम्मद (सल्ल०) के साथ यसरिब में गुज़रे दिनों की एक ख़ास बात हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को सारी उम्र याद रही। वे फ़रमाती थीं, "यसरिब में रहने के दिनों में यहूदियों की एक जमाअत के लोग आ-आकर नन्हे मुहम्मद को देखा करते थे। एक दिन मैंने एक यहूदी को कहते सुना कि यह लड़का आख़िरी नबी मालूम होता है और इसी शहर में इसे हिजरत करके आना है। उस यहूदी की यह बात मेरे दिल में बैठ गई।"

नबी (सल्ल०) जवान हुए तो उम्मे-ऐमन (रज़ि०) नबी (सल्ल०) को विरासत के हिस्से में कनीज़ के तौर पर मिलीं। लेकिन आप (सल्ल०) ने उन्हें आज़ाद कर दिया। हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) का

पहला निकाह उबैद-बिन-ज़ैद (रज़ि०) से हुआ। ये मदीना के रहनेवाले थे।

उबैद जाहिलियत के ज़माने में यसरिब से आकर मक्का में बस गए थे। यहीं इनका निकाह उम्मे-ऐमन (रज़ि०) से हुआ। कुछ रिवायतों में उन्हें सहाबी और अंसारी लिखा गया है, इससे अन्दाज़ा होता है कि उन्होंने उम्मे-ऐमन (रज़ि०) के साथ इस्लाम क़बूल कर लिया था। निकाह के कुछ वक़्त बाद वे उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को लेकर यसरिब (मदीना) चले गए। वहीं उनके बेटे हज़रत ऐमन (रज़ि०) की पैदाइश हुई। हज़रत ऐमन (रज़ि०) मशहूर सहाबी गुज़रे हैं। उबैद बेटे की पैदाइश के बाद ज़्यादा दिनों तक ज़िन्दा न रहे। नबी (सल्ल०) की हिजरत से कई साल पहले ही उनका इन्तिक़ाल हो गया।

उबैद के इन्तिक़ाल के बाद उम्मे-ऐमन (रज़ि०) अपने नन्हे बच्चे को लेकर नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर हुईं। आप (सल्ल०) ने उनकी हर तरह से दिलजोई की और एक दिन सहाबियों की मजलिस में फ़रमाया, "अगर कोई शख़्स जन्नत की औरत से निकाह करना चाहे तो वह उम्मे-ऐमन से निकाह करे।"

नबी (सल्ल०) का यह इरशाद सुनकर हज़रत ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि०) ने हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) से निकाह कर लिया। सन् 7 नबवी में उनके यहाँ उसामा-बिन-ज़ैद (रज़ि०) पैदा हुए। अपने बाप की तरह वे भी नबी (सल्ल०) के प्यारे थे।

प्यारे नबी (सल्ल०) को नुबूवत मिलने के बाद जिन ख़ुशनसीबों ने इस्लाम क़बूल करने में पहल की, हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) उनमें शामिल थीं। साबिक़ीन-अव्वलीन (पहले-पहल इस्लाम क़बूल करनेवाले) की इस पाकीज़ा जमाअत को जिन मुसीबतों और

परेशानियों का सामना करना पड़ा वह इतिहास का एक अफ़सोसनाक अध्याय भी है और हौसले व साबित-क़दमी की ईमान-अफ़रोज़ दास्तान भी। हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) इसी दास्तान का एक किरदार थीं। इस्लाम के दुश्मनों के ज़ुल्म और सितम से वे भी न बच सकीं। जब पानी सिर से गुज़र गया तो नबी (सल्ल०) ने मुसलमानों को सन् 5 नबवी में हबशा की तरफ़ हिजरत की इजाज़त दे दी। उस साल ग्यारह मर्दों और चार औरतों ने हिजरत की। फिर सन् 6 नबवी में 83 मर्दों और 18 औरतों की एक जमाअत हबशा गई। इनके अलावा भी बहुत-से मुसलमान इक्का-दुक्का हिजरत करके हबशा चले गए। हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) भी ऐसे ही मुहाजिरों में शामिल थीं।

नबी (सल्ल०) की मरज़ी जानकर और अपने शौहर हज़रत ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि०) की इजाज़त से सन् 6 नबवी के बाद हबशा चली गईं और उन्होंने कई साल वहाँ गुज़ारे। जब नबी (सल्ल०) हिजरत करके मदीना तशरीफ़ ले गए और हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को इसकी ख़बर मिली तो वे हबशा से मदीना आ गईं। इस तरह उन्होंने दो हिजरतें कीं। जिस ज़माने में वे मदीना पहुँचीं, बद्र की लड़ाई हो चुकी थी। सन् 3 हिजरी में उहुद की लड़ाई के ज़माने में वे काफ़ी उम्र-दराज़ हो चुकी थीं; लेकिन घर में बैठे रहना उन्हें पसन्द न आया। इसलिए वे उन औरतों में शामिल हो गईं जो मुजाहिदों को पानी पिलाती थीं और बीमारों की देखभाल करती थीं। उहुद के बाद ख़ैबर की लड़ाई में भी उन्होंने ख़िदमत अंजाम दी।

कुछ रिवायतों में है कि उनके बड़े बेटे ऐमन (रज़ि०) भी इस लड़ाई में उनके साथ शरीक हुए और बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए

शहीद हो गए। लेकिन सीरत की अक्सर किताबों में ख़ैबर के शहीदों में हज़रत ऐमन (रज़ि०) का नाम नहीं मिलता। इब्ने-इसहाक़ ने उन्हें हुनैन के शहीदों में शामिल किया है और लिखा है कि वे आठ सहाबी थे जो हुनैन की लड़ाई में शुरू से आख़िर तक नबी (सल्ल०) के साथ लड़ाई के मैदान में डटे रहे। इन आठ में सिर्फ़ हज़रत ऐमन (रज़ि०) शहीद हुए। हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) ने उनकी शहादत पर बड़े सब्र और हौसले से काम लिया और हज़रत ऐमन (रज़ि०) के बेटे हज्जाज को अपनी सरपरस्ती में ले लिया। हज्जाज बड़े होकर मदीना के आलिमों में शुमार हुए। उनसे हदीसें भी रिवायत की गई हैं।

मुअता की लड़ाई में उम्मे-ऐमन (रज़ि०) के शौहर ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि०) शहीद हुए तो उन्हें बहुत सदमा हुआ। फिर भी नबी (सल्ल०) की सरपरस्ती और तसल्ली ने उनके दुख को बहुत कुछ हल्का कर दिया। उनके बेटे हज़रत उसामा-बिन-ज़ैद (रज़ि०) से नबी (सल्ल०) बड़ी मुहब्बत करते थे और वे अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के प्यारे मशहूर थे। नबी (सल्ल०) को अपने घरवालों में सब से ज़्यादा मुहब्बत हज़रत हसन (रज़ि०) और हज़रत हुसैन (रज़ि०) से थी; लेकिन आप (सल्ल०) कभी-कभी मुहब्बत में हज़रत उसामा (रज़ि०) को भी शरीक कर लेते थे। सहीह बुख़ारी में है कि आप (सल्ल०) अपनी गोद में हज़रत हसन (रज़ि०) और हज़रत उसामा (रज़ि०) को बैठाते और फिर फ़रमाते—

> "ऐ अल्लाह, मैं इन दोनों से मुहब्बत करता हूँ इसलिए तू भी इनसे मुहब्बत कर।"

हज़रत उसामा (रज़ि०) से नबी (सल्ल०) की यह मुहब्बत देखकर कुछ लोग जलन का शिकार हो गए और उन्होंने यह मशहूर

कर दिया कि उसामा (रज़ि०) ज़ैद (रज़ि०) के बेटे नहीं हैं। जलनेवालों की इस शरारत की चपेट में हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) भी आती थीं। जब नबी (सल्ल०) तक यह बात पहुँची तो आप (सल्ल०) बहुत दुखी और परेशान हुए। इत्तिफ़ाक़ से उसी ज़माने में अरब का मशहूर 'क़ियाफ़ा शनास' (चेहरे और हाथ-पैर के आकार-प्रकार और निशानों द्वारा पहचान का इल्म रखनेवाला) मुजज़्ज़िज़ मुदलिजी नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में आया। उस वक़्त हज़रत उसामा (रज़ि०) अपने बाप ज़ैद (रज़ि०) के साथ सिर से पैर तक चादर ओढ़े सो रहे थे। बाप और बेटे दोनों के सिर्फ़ पैर चादर से बाहर थे। नबी (सल्ल०) ने मुजज़्ज़िज़ से फ़रमाया, "ज़रा बताओ इन पैरों का आपस में क्या ताल्लुक़ है?" मुजज़्ज़िज़ ने पैरों पर नज़र डाली और कहा, "ये बाप-बेटे हैं।" उसका जवाब सुनकर नबी (सल्ल०) को बहुत ख़ुशी हुई और जलनेवालों की ज़बान हमेशा के लिए बन्द हो गई।

सन् 11 हिजरी में नबी (सल्ल०) ने मुअता की लड़ाई का बदला लेने के लिए एक फ़ौज तैयार की। इस फ़ौज में हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०), हज़रत उमर (रज़ि०), हज़रत अबू-उबैदा-बिन-जर्राह (रज़ि०), हज़रत साद-बिन-अबी-वक़्क़ास (रज़ि०), हज़रत सईद-बिन-ज़ैद (रज़ि०) और कई दूसरे बुलन्द मर्तबेवाले सहाबी शामिल थे। लेकिन नबी (सल्ल०) ने इस फ़ौज का कमान्डर उसामा-बिन-ज़ैद (रज़ि०) जैसे नौजवान को बनाया। उस वक़्त नबी (सल्ल०) बीमार हो चुके थे, फिर भी आप (सल्ल०) ने इस फ़ौज को कूच करने का हुक्म दिया। इस लशकर ने मदीना से कूच करके जुर्फ़ नामी मक़ाम पर पड़ाव डाला। इसी बीच नबी (सल्ल०) की बीमारी बहुत बढ़ गई। हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०)

हाशिमी ख़ानदान के बहुत से मर्द और औरतों का आख़िरी वक़्त देख चुकी थीं। नबी (सल्ल०) की बीमारी में कुछ ऐसी निशानियाँ पाईं कि उन्हें यक़ीन हो गया कि अब नबी (सल्ल०) इस दुनिया से रुख़्सत हो रहे हैं। उन्होंने फ़ौरन हज़रत उसामा (रज़ि०) को ख़बर भेजी कि नबी (सल्ल०) का आख़िरी वक़्त है, जल्दी वापस आओ। हज़रत उसामा (रज़ि०) कुछ दूसरे सहाबियों के साथ जल्द ही मदीना आ गए और नबी (सल्ल०) के इन्तिक़ाल के बाद आप (सल्ल०) के कफ़न-दफ़न में शरीक हुए।

हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को नबी (सल्ल०) के इन्तिक़ाल से बहुत सदमा पहुँचा। वे ग़म से निढाल हो गईं। उनका रोना थमता ही नहीं था। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) और हज़रत उमर (रज़ि०) को ख़बर हुई तो उनके पास तशरीफ़ ले गए और तसल्ली देते हुए फ़रमाया, "नबी (सल्ल०) के लिए अल्लाह के पास बेहतरीन चीज़ मौजूद है।" हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) ने जवाब दिया, "यह तो मुझे भी मालूम है, रोती मैं इसलिए हूँ कि अब 'वह्य' का सिलसिला रुक गया।" यह सुनकर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) और हज़रत उमर (रज़ि०) का भी दिल भर आया और वे दोनों रोने लगे। यह रिवायत मुस्लिम की है। तबक़ात इब्ने-साद में है कि लोगों ने हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को समझाया तो कहने लगीं, "यह तो मैं जानती थी कि नबी (सल्ल०) से जुदाई होगी, लेकिन रोना मुझे इस बात पर आता है कि अब 'वह्य' का सिलसिला रुक गया।"

हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) ने न सिर्फ़ नबी (सल्ल०) की परवरिश की थी और आप (सल्ल०) को गोद में खिलाया था, बल्कि नबी (सल्ल०) के माँ, बाप, दादा और दूसरे बुज़ुर्गों की ख़िदमत भी की थी। इसलिए नबी (सल्ल०) उनकी बहुत इज़्ज़त करते थे और

अक्सर उनके घर भी तशरीफ़ ले जाया करते थे। आप (सल्ल०) फ़रमाया करते थे, "मेरी माँ के बाद उम्मे-ऐमन मेरी माँ हैं।" आप (सल्ल०) उन्हें अम्मी कहकर पुकारा करते थे। सहीह बुख़ारी में है कि आप (सल्ल०) उनकी तरफ़ इशारा करते थे और कहते थे, "ये मेरे घरवालों में से हैं।"

हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को भी नबी (सल्ल०) पर बड़ा नाज़ था। एक बार जब नबी (सल्ल०) उनके घर तशरीफ़ ले गए तो उन्होंने आप (सल्ल०) की ख़िदमत में शरबत पेश किया। नबी (सल्ल०) ने उसे पीने से किसी वजह से इनकार किया, क्योंकि शायद आप (सल्ल०) रोज़े से थे। इसपर उम्मे-ऐमन (रज़ि०) ने नाराज़ी दिखाई, लेकिन नबी (सल्ल०) ने उनकी बातों का बिलकुल बुरा न माना।

नबी (सल्ल०) के पास अंसार के दिए हुए बहुत-से नख़लिस्तान (रेगिस्तानी इलाक़ों के वे हरे-भरे टुकड़े जहाँ खजूरों के पेड़ होते हैं) थे। जब बनू-क़ुरैज़ा और बनू-नज़ीर अधीन हुए तो नबी (सल्ल०) ने अंसार को उनके नख़लिस्तान वापस करने शुरू किए। इसमें कुछ नख़लिस्तान हज़रत अनस-बिन-मालिक (रज़ि०) के भी थे जो नबी (सल्ल०) ने हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को दे दिए थे। जब नबी (सल्ल०) ने वे नख़लिस्तान हज़रत अनस (रज़ि०) को लौटाए और वे उनका क़ब्ज़ा लेने गए तो हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को उनके वापस देने में संकोच हुआ। नबी (सल्ल०) को ख़बर हुई तो आप (सल्ल०) ने उन बाग़ों से दस गुना ज़्यादा देकर उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को राज़ी कर दिया।

अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) का बयान है कि हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) का इन्तिक़ाल नबी (सल्ल०) की मौत के पाँच-छः साल

बाद हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में हुआ। लेकिन दूसरी रिवायतों से इसकी ताईद (पुष्टि) नहीं होती।

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने लिखा है कि सन् 24 हिजरी में हज़रत उमर (रज़ि०) शहीद कर दिए गए तो हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) को बहुत सदमा हुआ। वे रोती थीं और कहती थीं, "आज इस्लाम कमज़ोर पड़ गया।"

अल्लामा इब्ने-साद (रह०) बयान करते हैं कि हज़रत उसमान (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में खजूर के पेड़ बहुत महँगे हो गए थे। यहाँ तक कि एक पेड़ एक हज़ार पर उठता था। उसी ज़माने में एक दिन हज़रत उसामा-बिन-ज़ैद (रज़ि०) ने एक पेड़ की पीढ़ी खोखली करके उसका गूदा निकाला। लोगों ने हैरान होकर पूछा, "यह आप क्या कर रहे हैं? इतने क़ीमती पेड़ को क्यों बरबाद करते हैं?"

हज़रत उसामा (रज़ि०) ने जवाब दिया, "मेरी माँ ने इसकी फ़रमाइश की थी और वे जिस चीज़ का हुक्म देती हैं उसे पूरा करना मैं अपना फ़र्ज़ समझता हूँ।"

इस रिवायत से पता चलता है कि हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) हज़रत उसमान (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में ज़िन्दा थीं और सही यही है कि उन्हीं की ख़िलाफ़त के ज़माने में एक लम्बी उम्र के बाद उनका इन्तिक़ाल हुआ। उनसे कुछ हदीसें भी रिवायत की गई हैं। उनसे रिवायत करनेवालों में हज़रत अनस-बिन-मालिक (रज़ि०), हनश-बिन-अब्दुल्लाह और अबू-यज़ीद मदनी (रह०) शामिल हैं।

हज़रत सफ़ीया-बिन्ते-अब्दुल-मुत्तलिब (रज़ि०)

सन् 5 हिजरी में खन्दक़ की लड़ाई में सारे अरब के मुशरिकों और यहूदियों ने एक होकर इस्लाम के मर्कज़ पर हमला कर दिया। मदीना के अन्दर बनू-क़ुरैज़ा के यहूदी ग़द्दारी करके मुसलमानों की जान के दुश्मन बन गए। इस्लाम के जाँनिसारों के लिए यह बहुत बड़ी आज़माइश थी। लेकिन अल्लाह के इन पाकबाज़ बन्दो का क्या कहना! इनके पाँव हक़ की राह में एक लम्हे के लिए भी नहीं डगमगाए। उन्होंने अपनी जान और अपने माल अल्लाह की राह में बेच दिए थे और ज़िन्दगी की आख़िरी साँस तक कुफ़्र और शिर्क के तूफ़ानों से टकराने का फ़ैसला कर रखा था। लेकिन इससे पहले औरतों और बच्चों को घर के दुश्मनों, यानी बनू-क़ुरैज़ा के यहूदियों के दुस्साहस और शरारतों से बचाना ज़रूरी था। इसलिए नबी (सल्ल०) ने तमाम मुसलमान औरतों और बच्चों को हिफ़ाज़त के ख़याल से अंसार के एक क़िले 'फ़ारेअ' या 'अतम' में भेज दिया और हस्सान-बिन-साबित (रज़ि०) को उनकी निगरानी की ज़िम्मेदारी दे दी। क़िला बहुत मज़बूत था, फिर भी ख़तरे से ख़ाली नहीं था। नबी (सल्ल०) और तमाम मुसलमान जिहाद में शरीक थे और बनू-क़ुरैज़ा के मुहल्ले और इस क़िले के बीच में कोई फ़ौजी दस्ता नहीं था। एक दिन एक यहूदी उस तरफ़ आया और क़िले में मौजूद लोगों की सुन-गुन लेने लगा। इत्तिफ़ाक़ से एक बूढ़ी मगर सेहतमन्द ख़ातून ने उसे देख लिया और समझ गईं कि यह आदमी दुश्मन का जासूस है। अगर उसने बनू-क़ुरैज़ा के उपद्रवी यहूदियों को जाकर बता दिया कि क़िले में सिर्फ़ औरतें और बच्चे हैं तो हो सकता है वे क़िले पर हमला कर दें। यह सोचकर उन्होंने क़िले के मुहाफ़िज़ हज़रत हस्सान-बिन-साबित (रज़ि०) से कहा कि वे बाहर निकलकर

यहूदी को क़त्ल कर दें। हज़रत हस्सान (रज़ि०) ने इनकार कर दिया। इसकी वजह सीरत-निगार यह बयान करते हैं कि किसी बीमारी की वजह से उनका जिस्म या दिल कमज़ोर हो गया था।

कुछ रिवायतों में है कि उन्होंने इस मौक़े पर यह जवाब दिया, "मैं इस यहूदी से लड़ने के क़ाबिल होता तो इस वक़्त अल्लाह के रसूल के साथ न होता?"

वे ख़ातून हज़रत हस्सान (रज़ि०) का जवाब सुनकर उठीं, ख़ेमे की एक लाठी उखाड़ी, क़िले से बाहर आईं और उस यहूदी के सिर पर इस ज़ोर से मारा कि वह वहीं ढेर हो गया। हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) का बयान है कि यहूदी को क़त्ल करने के बाद उन्होंने हज़रत हस्सान (रज़ि०) से कहा, "जाकर उसका सिर काट लाओ"। उन्होंने इससे भी इनकार किया। अब उस बहादुर ख़ातून ने ख़ुद ही उसका सिर काटकर क़िले से बाहर फेंक दिया। उस कटे हुए सिर को देखकर यहूदियों को यक़ीन हो गया कि क़िले के अन्दर भी मुसलमानों की फ़ौज मौजूद है। इसलिए उन्हें क़िले पर हमला करने की हिम्मत न हुई। अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) का बयान है कि फिर उस ख़ातून ने हज़रत हस्सान (रज़ि०) से कहा, "अब जाकर मारे गए यहूदी का सामान उतार लो।" वे बोले, "मुझे इसकी ज़रूरत नहीं।"

इब्ने-असीर (रह०) कहते हैं कि यह पहली बहादुरी थी जो एक मुसलमान औरत से ज़ाहिर हुई। नबी (सल्ल०) ने उन्हें ग़नीमत के माल में से हिस्सा भी दिया।

ये हिम्मतवाली ख़ातून जिनकी बहादुरी और निडरता ने एक बड़ा ख़तरा टाल दिया और तमाम मुसलमान औरतों और बच्चों को यहूदियों के ज़ालिम शिकंजों से बचा लिया, बनू-हाशिम की बेटी,

नबी (सल्ल०) की फूफी हज़रत सफ़ीया-बिन्ते-अब्दुल-मुत्तलिब थीं।

हज़रत सफ़ीया-बिन्ते-अब्दुल-मुत्तलिब (रज़ि०) बुलन्द मर्तबा सहाबियात में से थीं। वे हाला-बिन्ते-वुहैब (या उहैब)-बिन-अब्दे-मनाफ़-बिन-ज़हरा-बिन-किलाब-बिन-मुर्रा की बेटी थीं। जो नबी (सल्ल०) की माँ आमिना-बिन्ते-वहब-बिन-अब्दे-मनाफ़ की चचेरी बहन थीं। इस रिश्ते से वे नबी (सल्ल०) की ख़लेरी बहन भी होती थीं। हज़रत हमज़ा (रज़ि०) (शहीदे-उहुद) उनके सगे भाई थे। नबी (सल्ल०) के बाप अब्दुल्लाह– अब्दुल-मुत्तलिब की एक दूसरी बीवी फ़ातिमा-बिन्ते-अम्र के बेटे थे। इस रिश्ते से हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) नबी (सल्ल०) की फूफी थीं। इसलिए उन्हें 'अ़मतुन-नबी' (नबी की फूफी) कहा जाता है।

नबी (सल्ल०) की दूसरी फूफियाँ– उम्मे-हकीम बैज़ा, उमैमा, आतिका, बर्रा और अरवा के इस्लाम क़बूल करने के बारे में सीरत-निगारों में इख़्तिलाफ़ है लेकिन हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) के इस्लाम पर सबका इत्तिफ़ाक़ है। इब्ने-असीर (रह०) ने लिखा है कि "सही यह है कि इनके सिवा नबी (सल्ल०) की किसी फूफी ने इस्लाम क़बूल नहीं किया।"

इब्ने-साद (रह०) और हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने आतिका और अरवा को भी इस्लाम क़बूल करनेवालों में शामिल किया है। लेकिन हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) वे ख़ुशक़िस्मत ख़ातून हैं जिन्होंने इस्लाम की दावत शुरू में क़बूल कर ली और सबसे पहले ईमान लानेवालों की उस पाकीज़ा जमाअत में शामिल हुईं जिसे अल्लाह ने साफ़-साफ़ जन्नत की ख़ुशख़बरी सुनाई है। नबी (सल्ल०) और उनकी पैदाइश के ज़माने में बहुत थोड़ा फ़र्क़ है, इसलिए वे क़रीब-क़रीब नबी (सल्ल०) की हम उम्र थीं।

हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) का पहला निकाह हारिस-बिन-हर्ब उमवी से हुआ, जिससे एक लड़का हुआ। हारिस के इन्तिक़ाल के बाद उनकी शादी अव्वाम-बिन-ख़ुवैलिद क़ुरशी अल-असदी से हुई जो उम्मुल-मोमिनीन हज़रत ख़दीजा (रज़ि०) के भाई थे। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) इन्हीं अव्वाम के बेटे थे। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) अभी छोटे ही थे कि बाप का इन्तिक़ाल हो गया। उस वक़्त हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) जवान थीं लेकिन उन्होंने फिर दूसरा निकाह नहीं किया और सारी उम्र बेवगी (विधवाकाल) में गुज़ार दी। नुबूवत के बाद जब मुहम्मद (सल्ल०) ने लोगों को इस्लाम की दावत दी तो हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) ने बेझिझक इस्लाम क़बूल कर लिया और उनके साथ ही उनके सोलह साल के बेटे हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) भी इस्लाम की रहमत के साए में आ गए।

हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) ने हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) की तरबियत बड़े ही अच्छे तरीक़े से की। उनकी ख़ाहिश थी कि उनका बेटा बड़ा होकर निडर और बहादुर सिपाही बने। इसी लिए हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) से कड़ी मेहनत का काम करातीं और कभी-कभी डाँट-डपट और पिटाई भी कर दिया करतीं। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के चचा नौफ़ल-बिन-ख़ुवैलिद एक दिन भतीजे को माँ के हाथों पिटते देखकर बेताब हो गए और हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) को सख़्ती से डाँटा कि इस तरह तो तुम बच्चे को मार ही डालोगी। नौफ़ल ने बनू-हाशिम और अपने क़बीले के कुछ दूसरे लोगों से भी कहा कि हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) को बच्चे पर सख़्ती करने से मना करें। जब उनकी अपने बेटे पर सख़्ती करने की चर्चा फैलने लगी तो उन्होंने लोगों के सामने एक शेर पढ़ा जिसका अनुवाद यह है—

"जिसने यह कहा कि मैं इस (ज़ुबैर रज़ि०) से बैर रखती

हूँ उसने ग़लत कहा, मैं इसको इसलिए पीटती हूँ कि यह अक़्लमन्द हो और फ़ौज को शिकस्त दे और ग़नीमत का माल हासिल करे।"

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने बयान किया है कि हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) को बचपन में एक जवान और ताक़तवर आदमी से मुक़ाबला पेश आ गया, उन्होंने उस आदमी को ऐसी मार लगाई कि उसका हाथ टूट गया। लोगों ने हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) से शिकायत की तो उन्होंने अफ़सोस ज़ाहिर नहीं किया बल्कि लोगों से पूछा, "तुमने ज़ुबैर को कैसा पाया, बहादुर या डरपोक?"

इस तरह माँ की तरबियत का असर यह हुआ कि हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) बड़े होकर बहुत बड़े बहादुर और निडर नौजवान निकले। यूँ भी हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) नेक आदतों के मालिक थे। माँ की तरबियत ने उनकी ख़ूबियों को और भी चमका दिया और उनके दिल में इस्लाम और नबी (सल्ल०) की मुहब्बत कूट-कूटकर भर दी। नबी (सल्ल०) से हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) की बेपनाह मुहब्बत का अजीब हाल था। नुबूवत के शुरू के ज़माने में एक दिन जब यह अफ़वाह सुनी कि इस्लाम-दुश्मनों ने नबी (सल्ल०) को गिरफ़्तार कर लिया है या शहीद कर दिया है तो ऐसे बेक़रार हुए कि न आव देखा न ताव, तलवार ख़ीचकर तेज़ी के साथ नबी (सल्ल०) के ठिकाने पर पहुँचे। आप (सल्ल०) को ख़ैरियत से पाया तो चैन की साँस ली और चेहरा ख़ुशी से खिल उठा।

नबी (सल्ल०) ने उनकी चमकती तलवार की तरफ़ इशारा करके पूछा, "ज़ुबैर! यह क्या है?" कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरे माँ-बाप आप पर क़ुरबान, मैंने सुना था कि आपको दुश्मनों ने गिरफ़्तार कर लिया है या शायद आप शहीद कर दिए गए हैं।"

नबी (सल्ल०) ने मुस्कुराते हुए फ़रमाया, "अगर ऐसा हो जाता तो तुम क्या करते?"

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने फ़ौरन जवाब दिया, "ऐ अल्लाह के रसूल! मैं मक्कावालों से लड़ मरता।"

सन् 5 नबवी में हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) को अपने प्यारे बेटे से कुछ मुद्दत की जुदाई का सदमा सहना पड़ा। इस्लाम क़बूल करने के बाद दूसरे मुसलमानों की तरह हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) भी इस्लाम-दुश्मनों के ज़ुल्म और सितम का निशाना बन गए थे। ख़ासतौर पर उनका चचा नौफ़ल-बिन-ख़ुवैलिद उनपर बड़ा ज़ुल्म ढाता था। इसलिए नबी (सल्ल०) की इजाज़त से पन्द्रह मुसलमानों का क़ाफ़िला हबशा हिजरत कर गया। इस क़ाफ़िले में हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) भी शामिल थे। माँ के लिए उनकी जुदाई बरदाश्त करना सख़्त मुश्किल था लेकिन नबी (सल्ल०) की मरज़ी और बेटे की सलामती के ख़याल से उन्होंने बड़े सब्र और हौसले से अपने प्यारे बेटे को कोसों दूर भेज दिया। इन मुहाजिरों ने अभी हबशा में तीन महीने ही गुज़ारे थे कि उन्होंने एक अच्छी ख़बर सुनी कि मक्का के मुशरिकों ने इस्लाम क़बूल कर लिया है। एक दूसरी रिवायत के मुताबिक़ ख़बर यह थी कि नबी (सल्ल०) और इस्लाम-दुश्मनों के बीच सुलह (संधि) हो गई है। यह ख़बर सुनकर ज़्यादातर मुहाजिर वापस मक्का आ गए। उनमें हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) भी थे। जब वे मक्का के क़रीब पहुँचे तो मालूम हुआ कि यह ख़बर बिलकुल ग़लत थी। इसलिए वापस आनेवाले सभी लोग क़ुरैश के किसी-न-किसी सरदार की पनाह हासिल करके मक्का में दाख़िल हुए। अल्लामा बलाज़री (रह०) का बयान है कि हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने ज़मआ-बिन-असवद की पनाह हासिल की। हज़रत सफ़ीया (रज़ि०)

अपने बेटे से मिलकर बहुत ख़ुश हुईं और उनके यूँ अचानक ख़ैरियत से वापस लौट आने पर अल्लाह का शुक्र अदा किया। मक्का वापस आने के बाद हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने तिजारत करना शुरू किया और कारोबारी क़ाफ़िलों के साथ सीरिया आने-जाने लगे। इसी ज़माने में हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) ने हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) की शादी हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र (रज़ि०) से कर दी। इस तरह वे अबू-बक्र (रज़ि०) की समधन बन गईं।

सीरत-निगारों ने लिखा है कि हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) ने अपने बेटे हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के साथ मदीना हिजरत की। रिवायतों से मालूम होता है कि जब नबी (सल्ल०) मक्का को अलविदा कहकर मदीना की तरफ़ चले उस वक़्त हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) कारोबार के सिलसिले में सीरिया गए हुए थे। जब वे सीरिया से मक्का वापस आ रहे थे तो रास्ते में नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से मुलाक़ात हुई, जो मक्का से हिजरत करके मदीना तशरीफ़ ले जा रहे थे। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) और अपने ससुर अबू-बक्र (रज़ि०) की ख़िदमत में सफ़ेद कपड़ों का तोहफ़ा पेश किया और वे उसी सफ़ेद कपड़े को पहनकर मदीना में दाख़िल हुए। सहीह बुख़ारी में हज़रत उरवा-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) से रिवायत है—

> "नबी (सल्ल०) ज़ुबैर (रज़ि०) से मिले जो मुसलमान ताजिरों के एक क़ाफ़िले के साथ शाम (सीरिया) से वापस लौट रहे थे, ज़ुबैर (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) और अबू-बक्र (रज़ि०) को सफ़ेद कपड़े पहनाए।"

मक्का वापस आने के थोड़े दिनों बाद हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने अपनी माँ हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) और बीवी हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र (रज़ि०) के साथ मदीना की तरफ़ हिजरत की और कुछ मुद्दत क़ुबा में ठहरे।

सन् 1 हिजरी और एक दूसरी रिवायत के मुताबिक़ सन् 2 हिजरी में क़ुबा में ही हज़रत असमा (रज़ि०) के यहाँ हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) पैदा हुए। हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) के इस पोते की पैदाइश इस्लामी तारीख़ में बहुत अहमियत रखती है। क्योंकि इनकी पैदाइश से पहले किसी मुहाजिर के यहाँ कोई औलाद नहीं हुई थी और मदीना के यहूदियों ने यह मशहूर कर दिया था कि हमने मुसलमानों पर जादू कर दिया है और उनकी नस्ल का सिलसिला रुक गया है। हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) पैदा हुए तो मुसलमानों में ख़ुशी की लहर दौड़ गई और उन्होंने इस जोश से तकबीर का नारा बुलन्द किया कि दूर-दूर तक आवाज़ गूँज गई। मदीना में हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के साथ ही रहती थीं और वे उनकी ख़ूब ख़िदमत किया करते थे।

सन् 3 हिजरी में होनेवाली उहुद की लड़ाई में जब एक छोटी-सी ग़लती से लड़ाई का पाँसा पलट गया और मुसलमानों में घबराहट और बेचैनी फैल गई तो हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) हाथ में नेज़ा (बरछी) लेकर मदीना से निकलीं। जो लोग लड़ाई के मैदान से मुँह मोड़कर आ रहे थे उनको शर्म और ग़ैरत दिलाती थीं और ग़ुस्से से फ़रमाती थीं, "तुम लोग अल्लाह के रसूल को छोड़कर चल दिए?"

नबी (सल्ल०) ने हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) को लड़ाई के मैदान की तरफ़ आते देखा तो उनके बेटे हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) को बुलाकर फ़रमाया, "सफ़ीया अपने भाई हमज़ा की लाश न देखने पाएँ।" हज़रत हमज़ा (रज़ि०) बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए ज़ुबैर-बिन-मुतइम के ग़ुलाम वहशी-बिन-हर्ब के बरछे से शहीद हो गए थे। हिन्द-बिन्ते-उत्बा ने अपने बाप उत्बा, जो कि बद्र की

लड़ाई में मारा गया था, के इन्तिक़ाम के जोश में उनकी लाश का मुसला (अंग-भंग) किया था, यानी नाक और कान काट डाले थे और उनका पेट फाड़कर उनका कलेजा निकालकर चबा डाला था। नबी (सल्ल०) नहीं चाहते थे कि सफ़ीया (रज़ि०) अपने महबूब और बहादुर भाई की लाश इस हालत में देखे। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने अपनी माँ को नबी (सल्ल०) का हुक्म सुनाया तो वे उसकी वजह समझ गईं, बोलीं, "मुझे मालूम हो चुका है कि मेरे भाई की लाश बिगाड़ी गई है, ख़ुदा की क़सम! मुझे यह पसन्द नहीं, लेकिन मैं सब्र करूँगी और इन-शाअल्लाह ज़ब्त से काम लूँगी।"

नबी (सल्ल०) को जब हज़रत सफ़ीयां (रज़ि०) का जवाब मालूम हुआ तो आप (सल्ल०) ने उन्हें हक़ की राह में शहीद होनेवाले, हमज़ा (रज़ि०) की लाश देखने की इजाज़त दे दी। वे भीगी आँखों के साथ लाश के पास आईं और अपने प्यारे भाई के जिस्म के बिखरे टुकड़ों को देखकर एक ठंडी आह खींची और "इन्ना-लिल्लाहि व इन्ना इलैहि राजिऊन" पढ़कर ख़ामोश हो गईं। फिर उनके लिए मग़फ़िरत की दुआ माँगी और उनके कफ़न के लिए दो चादरें नबी (सल्ल०) को पेश करके वापस मदीना चली गईं।

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने बयान किया है कि हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) ने हज़रत हमज़ा (रज़ि०) की शहादत पर एक दर्द-भरा मरसिया कहा, जिसके एक शेर में नबी (सल्ल०) से मुख़ातब होकर यूँ कहा—

> "आज आप पर वह दिन आया है कि आफ़ताब काला हो गया है, हालाँकि इससे पहले वह रौशन था।"

एक रिवायत में है कि हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) अपने प्यारे भाई

के लिए मग़फ़िरत की दुआ माँगकर अपने आँसू न रोक सकीं और बेइख़्तियार रोने लगीं। नबी (सल्ल०) ने उन्हें रोते देखा तो आपने हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) को सब्र की नसीहत की और तसल्ली देते हुए फ़रमाया—

"मुझे जिबरील (अलैहि०) ने ख़बर दी है कि अर्शे-मुअल्ला (सातवें आसमान) पर हमज़ा-बिन-अब्दुल-मुत्तलिब को असदुल्लाह और असदुर्रसूल (अल्लाह का शेर और रसूल का शेर) लिखा गया है।"

सन् 5 हिजरी में ख़न्दक़ की लड़ाई में हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) ने जिस बहादुरी और निडरता की मिसाल क़ायम की उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, उस वक़्त उनकी उम्र लगभग 58 साल थी।

सीरत-निगारों का बयान है कि हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) बहुत सूझ-बूझ रखनेवाली, दूर-अन्देश, बहादुर और साबिर ख़ातून थीं। वे तमाम अरब में अपने हसब व नसब और कथनी व करनी के एतिबार से एक ख़ास मक़ाम रखती थीं। उन्हें शायरी में भी महारत हासिल थी। सीरत की किताबों में उनके कहे हुए कुछ मरसिये मिलते हैं, उन्हें पढ़कर एहसास होता है कि उनके कलाम में ख़ूबसूरती और सादगी थी। अपने बाप अब्दुल-मुत्तलिब के इन्तिक़ाल पर उन्होंने जो मरसिया कहा उसके कुछ अशआर ये हैं—

"रात को एक विलाप करनेवाली की आवाज़ ने मुझे रुला दिया,

वह एक शरीफ़ मर्द पर रो रही थी,

और इस हाल में मेरे आँसू मोतियों की तरह मेरे गालों पर बहने लगे,

अफ़सोस है उस शरीफ़ मर्द की मौत पर

जो बेहूदा न था और उसकी बुज़ुर्गी की चर्चा दूर-दूर तक थी,

वह आला नसब, साहिबे जूदो-सख़ा (खूब खैरात करनेवाला) और अकाल में लोगों के लिए अब्रे-रहमत (मदद करनेवाला) था

इसलिए अगर इनसान अपनी शराफ़त और बुज़ुर्गी की वजह से हमेशा ज़िन्दा रह सकता (लेकिन हमेशा ज़िन्दा रहने की कोई सूरत नहीं)

तो वह मर्दे-करीम अपनी क़दीम (हमेशा की) शराफ़त और फ़ज़ीलत की वजह से बहुत ज़माने तक ज़िन्दा रहता।"

नबी (सल्ल०) हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) के भतीजे, ख़लेरे भाई और शौहर के बहनोई थे। बचपन में उन्होंने नबी (सल्ल०) के साथ एक ही घर में परवरिश पाई थी। इसलिए उन्हें नबी (सल्ल०) से बहुत मुहब्बत थी। नबी (सल्ल०) को भी उनसे बड़ा गहरा लगाव था और आप (सल्ल०) उनके बेटे हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) को अक्सर इब्ने-सफ़ीया कहकर पुकारा करते थे।

सन् 11 हिजरी में जब नबी (सल्ल०) का इन्तिक़ाल हुआ तो हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) पर ग़म का पहाड़ टूट पड़ा। इस मौक़े पर उन्होंने एक दर्द भरा मरसिया कहा जिसके कुछ अशआर ये हैं –

ऐ अल्लाह के रसूल! आप हमारी उम्मीद थे

आप हमारे मुहसिन थे, ज़ालिम न थे

आप रहीम थे, हिदायत करनेवाले और तालीम देनेवाले थे।

आज हर रोनेवाले को आप (सल्ल०) पर रोना चाहिए।

अल्लाह के रसूल पर मेरी माँ, ख़ाला, चचा और मामूँ क़ुरबान हों

फिर मैं ख़ुद और मेरा माल भी,

काश अल्लाह हमारे आक़ा (सल्ल०) को हमारे दरमियान रखता!

तो हम कैसे ख़ुशक़िस्मत थे

लेकिन हुक्मे-इलाही अटल है

आप पर अल्लाह का सलाम हो

आप जन्नत के बाग़ों में दाख़िल हों।"

एक और मरसिये का आख़िरी बन्द है—

"ऐ आँख अल्लाह के रसूल की मौत पर ख़ूब आँसू बहा।"

हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) का इन्तिक़ाल उमर (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में हुआ। उस वक़्त उनकी उम्र 73 साल थी।

आख़िरी आरामगाह बक़ीअ के क़ब्रिस्तान में है।

हज़रत सुमैया-बिन्ते-ख़िबात (रज़ि०)

हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने नुबूवत के बाद जब लोगों को इस्लाम की दावत देनी शुरू की तो मक्का के वही क़ुरैश के लोग जो नबी (सल्ल०) को "अमीन! अमीन!" कहकर पुकारते थे, आप (सल्ल०) के ख़ून के प्यासे बन गए। यही नहीं, बल्कि जो शख़्स भी इस्लाम क़बूल कर लेता उसपर ज़ुल्म और सितम ढाना शुरू कर देते थे। इसमें मर्द और औरत का कोई फ़र्क़ नहीं था। उसी ज़माने की बात है, नबी (सल्ल०) एक दिन बनू-मख़ज़ूम के मुहल्ले से गुज़र रहे थे तो देखा कि क़ुरैश के इस्लाम-दुश्मनों ने एक बूढ़ी कमज़ोर औरत

को लोहे की ज़िरह (कवच) पहनाकर धूप में ज़मीन पर लिटा रखा है और पास खड़े होकर ठहाके लगा रहे हैं और उस औरत से कह रहे हैं—

"मुहम्मद का दीन क़बूल करने का मज़ा चख!"

उस मज़लूम ख़ातून की बेबसी देखकर नबी (सल्ल०) की आँखों में आँसू आ गए और आप (सल्ल०) ने उनसे कहा, "सब्र करो! तुम्हारा ठिकाना जन्नत में है।"

अल्लाह के दीन की राह में ज़ुल्म सहनेवाली ये ख़ातून, जिनको नबी (सल्ल०) ने सब्र की नसीहत फ़रमाई और जन्नत की ख़ुशख़बरी सुनाई, हज़रत सुमैया-बिन्ते-ख़िबात (रज़ि०) थीं।

हज़रत सुमैया-बिन्ते-ख़िबात (रज़ि०) बुलन्द मर्तबे की सहाबिया थीं। वे हक़ की राह में कमज़ोरी और बुढ़ापे के बावजूद ज़ुल्म और सितम झेलती रहीं, यहाँ तक कि अपनी जान भी इसी राह में क़ुरबान कर दी। उन्हें इस्लाम की राह में सबसे पहली शहीद होनेवाली औरत होने की ख़ुशनसीबी हासिल है।

हज़रत सुमैया (रज़ि०) के बुज़ुर्गों में सिर्फ़ उनके बाप ख़िबात का नाम मालूम है। उनका वतन और ख़ानदान कौन-सा था और वे कब और कैसे मक्का पहुँचीं, सीरत की किताबों में इन सवालों का कोई जवाब नहीं मिलता। सिर्फ़ इतना पता चलता है कि जाहिलियत के दिनों में वे मक्का के एक रईस अबू-हुज़ैफ़ा-बिन-मुग़ीरा की कनीज़ (दासी) थीं। यह नुबूवत से लगभग पैंतालीस साल पहले की बात है। उसी ज़माने में यमन से क़हतानी नस्ल के एक शख़्स यासिर-बिन-आमिर अपने एक गुमशुदा भाई को तलाश करते हुए मक्का पहुँचे और फिर यहीं बस गए। मक्का में वे अबू-हुज़ैफ़ा-बिन-मुग़ीरा के हलीफ़ (मददगार) बन गए। उसने हज़रत

सुमैया (रज़ि०) की शादी यासिर-बिन-आमिर (रज़ि०) से कर दी। उनसे हज़रत सुमैया (रज़ि०) के दो बेटे थे अब्दुल्लाह (रज़ि०) और अम्मार (रज़ि०)। यह वह ज़माना था जब नबी (सल्ल०) बचपन और जवानी की मंज़िलें तय कर रहे थे। अनुमान है कि नबी (सल्ल०) की ज़िन्दगी का यह सारा ज़माना यासिर (रज़ि०), सुमैया (रज़ि०), अब्दुल्लाह (रज़ि०) और अम्मार (रज़ि०) के सामने गुज़रा और उनपर नबी (सल्ल०) की ज़िन्दगी, अख़लाक़ और किरदार का बहुत गहरा असर पड़ा, क्योंकि नुबूवत के बाद नबी (सल्ल०) ने इस्लाम की तरफ़ बुलाना शुरू किया तो पूरे ख़ानदान ने बिना किसी झिझक के इस्लाम क़बूल कर लिया। उस वक़्त अबू-हुज़ैफ़ा मख़्ज़ूमी का इन्तिक़ाल हो चुका था और हज़रत सुमैया (रज़ि०) उसके वारिसों की ग़ुलामी में थीं। यह ज़माना मुसलमानों के लिए बड़ी मुसीबत का था। मक्का में जो शख़्स भी इस्लाम क़बूल करता मुशरिकों के भड़कते ग़ुस्से और रोंगटे खड़े कर देनेवाले ज़ुल्म और सितम का निशाना बन जाता। इस मामले में मुशरिक अपने रिश्तेदारों का भी ख़याल नहीं करते थे। हज़रत यासिर (रज़ि०) और उनके लड़के परदेसी थे। हज़रत सुमैया (रज़ि०) भी बनू-मख़्ज़ूम की ग़ुलामी से आज़ाद नहीं हुई थीं। इन बेचारों पर तो ज़ुल्म और सितम के पहाड़ तोड़ने की मुशरिकों को खुली छूट थी। उन्होंने उस बेकस ख़ानदान पर ऐसे-ऐसे ज़ुल्म ढाए कि इनसानियत सिर पीटकर रह गई। हज़रत यासिर (रज़ि०) और हज़रत सुमैया (रज़ि०) दोनों बहुत कमज़ोर और बूढ़े थे, मगर उनके मज़बूत ईमान और साबित-क़दमी का यह हाल था कि मुशरिक उनको तरह-तरह की दर्दनाक तकलीफ़ें देते और शिर्क पर मजबूर करते लेकिन उनके क़दम राहे-हक़ से ज़रा न डगमगाते। यही हाल उनके बेटों का था।

ज़ालिम इन बेचारों को लोहे की ज़िरहें पहनाकर मक्का की जलती-तपती रेत पर लिटाते, उनकी पीठ को आग के अंगारों से दाग़ते और पानी में डुबकियाँ देते।

एक बार नबी (सल्ल०) उस जगह से गुज़रे जहाँ इन बेचारों पर ज़ुल्म ढाया जा रहा था। आप (सल्ल०) को बहुत दुख हुआ और आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "सब्र करो ऐ यासिर की औलाद, तुम्हारे लिए जन्नत का वादा है।" एक और रिवायत में है कि एक बार नबी (सल्ल०) ने हज़रत यासिर (रज़ि०), हज़रत सुमैया (रज़ि०) और उनके बच्चों को ज़ुल्म सहते देखा तो फ़रमाया, "सब्र करो! ऐ अल्लाह, यासिर के ख़ानदान की मग़फ़िरत फ़रमा दे और तूने उनकी मग़फ़िरत कर ही दी।"

बूढ़े यासिर (रज़ि०) यह ज़ुल्म सहते-सहते इस दुनिया से गुज़र गए। लेकिन मुशरिकों को फिर भी इस ख़ानदान पर रहम नहीं आया और उन्होंने हज़रत सुमैया (रज़ि०) और उनके बच्चों पर ज़ुल्म का सिलसिला जारी रखा।

एक दिन हज़रत सुमैया (रज़ि०) दिन-भर मुसीबतें झेलकर शाम को घर आईं तो अबू-जह्ल उनको गालियाँ देने लगा। फिर ग़ुस्सा ऐसा भड़का कि उसने अपना बरछा हज़रत सुमैया (रज़ि०) को खींच मारा। वे उसी वक़्त ज़मीन पर गिरीं और इस दुनिया से रुख़सत हो गईं। एक रिवायत में है कि अबू-जह्ल ने तीर मारकर हज़रत सुमैया (रज़ि०) के बेटे अब्दुल्लाह (रज़ि०) को भी शहीद कर दिया। अब सिर्फ़ हज़रत अम्मार (रज़ि०) बच गए थे। उनको अपनी माँ की बेकसी की मौत का बहुत सदमा हुआ। रोते हुए नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में आए और सारी बात सुनाई और कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल, अब तो ज़ुल्म की हद हो गई!"

नबी (सल्ल०) ने उनको सब्र की नसीहत की और फ़रमाया, “ऐ अल्लाह, यासिर के ख़ानदान को जहन्नम से बचा!”

हज़रत अम्मार (रज़ि०) तो बेटे थे इसलिए वे अपनी माँ की मज़लूमाना शहादत कभी नहीं भूल सकते थे, लेकिन नबी (सल्ल०) को भी अबू-जहल की संगदिली और हज़रत सुमैया (रज़ि०) की बेकसी की मौत याद रही। सन 2 हिजरी रमज़ान के महीने में होनेवाली बद्र की लड़ाई में जब अबू-जहल मारा गया तो नबी (सल्ल०) ने हज़रत अम्मार-बिन-यासिर (रज़ि०) को बुलाकर फ़रमाया, “अल्लाह ने तुम्हारी माँ के क़ातिल से बदला ले लिया।”

हज़रत सुमैया (रज़ि०) की शहादत नबी (सल्ल०) की हिजरत से कई साल पहले हुई। सीरत-निगारों का इस पर इत्तिफ़ाक़ है कि हज़रत सुमैया (रज़ि०) इस्लाम की पहली शहीद हैं।

हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०)

सन् 9 हिजरी में नबी (सल्ल०) को एक दिन एक ऐसी ख़ातून के इन्तिक़ाल की ख़बर मिली, जो नबी (सल्ल०) पर जान छिड़कती थीं। नबी (सल्ल०) यह ख़बर सुनकर गहरे रंजो-ग़म के साथ उनके जनाज़े पर तशरीफ़ ले गए। खुद क़ब्र में उतारा और फिर फ़रमाया—

“जो शख़्स जन्नत की हूर को देखना चाहे वह उम्मे-रूमान को देखे।”

ये उम्मे-रूमान (रज़ि०) जिनको नबी (सल्ल०) ने जन्नत की हूर कहा, हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की बीवी, नबी (सल्ल०) की सास और उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आइशा (रज़ि०) की माँ थीं।

हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) बड़े ऊँचे दर्जे की सहाबिया थीं। उनका ताल्लुक़ किनाना क़बीले के फ़िरास ख़ानदान से था।

सीरत-निगारों में से किसी ने उनका असली नाम नहीं लिखा। वे अपनी कुन्नियत उम्मे-रूमान से ही मशहूर हैं। नसब का सिलसिला यह है: उम्मे-रूमान-बिन्ते-आमिर-बिन-उवैमिर-बिन-अब्दे-शम्स-बिन-अत्ताब-बिन-उज़ैना-बिन-सुबैअ्-बिन-वहमान-बिन-हारिस-बिन-ग़न्म-बिन-मालिक-बिन-किनाना।

हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) की पहली शादी, जाहिलियत के ज़माने में, अब्दुल्लाह-बिन-हारिस-बिन-सख़्बरह से हुई और वे उन ही के साथ मक्का आकर बस गईं।

अब्दुल्लाह से उनका एक बेटा पैदा हुआ जिसका नाम तुफ़ैल[1] रखा गया। कुछ मुद्दत के बाद अब्दुल्लाह-बिन-हारिस का इन्तिक़ाल हो गया और उम्मे-रूमान (रज़ि०) बेसहारा रह गईं। चूँकि अब्दुल्लाह अबू-बक्र (रज़ि०) के साथी बन गए थे इसलिए उनके इन्तिक़ाल के कुछ महीने बाद हज़रत अबू-बक्र ने उम्मे-रूमान (रज़ि०) से ख़ुद निकाह कर लिया। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से उम्मे-रूमान (रज़ि०) के यहाँ एक बेटी हज़रत आइशा (रज़ि०) और एक बेटा हज़रत अब्दुर्रहमान (रज़ि०) पैदा हुए। ये दोनों इस्लामी तारीख़ की रौशन हस्तियाँ हैं।

हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने नुबूवत के बाद जब लोगों तक इस्लाम पहुँचाने का काम शुरू किया तो हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) उन चार बुलन्द मर्तबा हस्तियों में से एक थे जिन्होंने सबसे पहले बढ़कर तौहीद के परचम को थाम लिया। हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) को हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने की

---

[1] कुछ रिवायतों में हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) के पहले शौहर का नाम तुफ़ैल-बिन-सख़्बरह बताया गया है, उनके बेटे का नाम तुफ़ैल की जगह अब्दुल्लाह लिखा गया है।

ख़बर मिली तो उन्होंने बिना किसी झिझक के फ़ौरन इस्लाम क़बूल कर लिया और "साबिक़ूनल-अव्वलून" (बिलकुल शुरू में इस्लाम क़बूल करनेवाले लोग) की पाकीज़ा जमाअत में शामिल हो गईं।

हिजरत के सफ़र में हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को नबी (सल्ल०) का साथ देने की ख़ुशनसीबी हासिल हुई। मक्का से चलते वक़्त उन्होंने नबी (सल्ल०) की पैरवी करते हुए अपने बाल-बच्चों को अल्लाह के भरोसे पर दुश्मनों के बीच छोड़ दिया। जब मदीना पहुँचकर कुछ इत्मीनान हुआ तो नबी (सल्ल०) ने ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि०) और हज़रत अबू-राफ़े (रज़ि०) को अपने घरवालों को लाने के लिए मक्का भेजा। हज़रत अबू-बक्र ने उनके साथ अब्दुल्लाह-बिन-उरैक़ित[1] को अपने बेटे अब्दुल्लाह (रज़ि०) के नाम ख़त देकर भेजा कि वे भी उम्मे-रूमान, असमा और आइशा को अपने साथ मदीना ले आएँ। चुनाँचे हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०), हज़रत असमा (रज़ि०) और हज़रत आइशा (रज़ि०) हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अबू-बक्र (रज़ि०) के साथ मक्का से चल पड़ीं।

हज़रत आइशा (रज़ि०) से रिवायत है कि हिजरत के सफ़र में जब हम लोग बैदा नामी जगह पर पहुँचे तो मेरा ऊँट बिदक गया। मैं और मेरी माँ, उम्मे-रूमान (रज़ि०), उसके हौदज (ऊँट की पीठ

---

[1] अब्दुल्लाह-बिन-उरैक़ित इस्लामी तारीख़ का एक अद्भूत आदमी है। इसका ताल्लुक़ बनू-दील से था और यह विभिन्न रास्तों को एक-दूसरे से मिलानेवाले रास्तों की बहुत अच्छी जानकारी रखता था। हिजरत के सफ़र में उसने मक्का से मदीना तक नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को पहुँचाने का काम मज़दूरी लेकर किया। यह शख़्स इस्लाम तो नहीं लाया लेकिन अपने आपको भरोसे के क़ाबिल साबित कर दिखाया। क़ुरैश के मुशरिकों ने नबी (सल्ल०) का पता बताने पर भारी इनाम रखा था लेकिन उसने उसे ठुकरा दिया और किसी के कानों में हिजरत के सफ़र की भनक भी न पड़ने दी।

पर रखा जानेवाला हौदा जिसपर मुसाफ़िर बेठते हैं) में बैठे हुए थे। ऊँट ने उछलना-कूदना शुरू किया तो मेरी माँ बहुत परेशान हो गईं और उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया, "हाय मेरी बेटी! हाय मेरी दुल्हन!" अल्लाह ने मेहरबानी की, ऊँट पकड़ा गया और हम लोग ख़ैरियत से मदीना पहुँच गए।

मदीना में हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के घरवाले बनू-हारिस-बिन-ख़ज़रज के मुहल्ले में ठहरे, जहाँ हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने एक मकान पहले से ही ले रखा था।

सन् 6 हिजरी में इफ़्क़ का अफ़सोसनाक वाक़िआ पेश आया जिसमें मदीना के मुनाफ़िक़ों की साज़िश से हज़रत आइशा (रज़ि०) पर लांछन लगाया गया। हालात कुछ ऐसे थे कि नबी (सल्ल०) भी रंजीदा हो गए। हज़रत आइशा (रज़ि०) के लिए नबी (सल्ल०) का दुख क़ियामत से कम न था। दुखिया बेटियों का सहारा माँ का आँचल ही होता है। हज़रत आइशा (रज़ि०) नबी (सल्ल०) से इजाज़त लेकर गिरती-पड़ती अपने माँ-बाप के घर पहुँचीं। यह एक दो मंज़िला मकान था। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ऊपर की मंज़िल में थे और हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) निचली मंज़िल में बैठी थीं। बेटी को इस हालत में देखकर पूछा, "मेरी बच्ची! ख़ैर तो है, कैसे आईं?"

हज़रत आइशा (रज़ि०) ने सारी बात सुनाई। हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) माँ थीं, दुख तो उन्हें बहुत हुआ लेकिन हज़रत आइशा (रज़ि०) का दिल रखने को कहा, "बेटी घबराओ नहीं, जो औरत शौहर की प्यारी होती है, उसे शौहर की नज़रों से गिराने के लिए ऐसी बातें बनाई जाती हैं।"

हज़रत आइशा (रज़ि०) का दिल ग़म से बोझल था। उन्हें माँ

के जवाब से तसल्ली नहीं हुई और रंज व ग़म के बोझ से वे फूट-फूटकर रो पड़ीं। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) अपनी बेटी का रोना सुनकर ऊपरी मंज़िल से नीचे उतरे, सारी बात सुनी, नर्म दिल तो थे ही, ख़ुद भी रोने लगे। जब ज़रा चैन आया तो हज़रत आइशा (रज़ि०) से कहा, "बेटी तुम अपने घर जाओ, हम अभी आते हैं।"

जब वे चली गईं तो हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) उम्मे-रूमान (रज़ि०) के साथ हज़रत आइशा (रज़ि०) के घर पहुँचे। उम्मुल-मोमिनीन को रंज और ग़म की शिद्दत से बुख़ार आ गया था। हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) ने उन्हें अपनी गोद में लिटा लिया। अस्र की नमाज़ के बाद नबी (सल्ल०) तशरीफ़ लाए और इस बुहतान (मिथ्यारोपण) के बारे में हज़रत आइशा (रज़ि०) से सवाल किया। हज़रत आइशा (रज़ि०) ने माँ-बाप की तरफ़ देखा और कहा, "आप लोग जवाब दें!" लेकिन वे दोनों नबी (सल्ल०) से सच्चे दिल से मुहब्बत करते थे। आप (सल्ल०) को रंजीदा देखकर अपनी बेटी की हिमायत कैसे कर सकते थे! लेकिन इतना कहा, "हम क्या कह सकते हैं!"

हज़रत आइशा (रज़ि०) ने कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! मैं बिलकुल बेगुनाह हूँ।"

आख़िर अल्लाह की ग़ैरत जोश में आई और अल्लाह ने हज़रत आइशा (रज़ि०) के बेगुनाह होने की गवाही इन ज़ोरदार अल्फ़ाज़ में दी—

> "जब तुमने यह सुना तो मोमिन मर्दों और मोमिन औरतों की निस्बत नेक गुमान क्यों नहीं किया और क्यों न कहा कि यह तो साफ़ बुहतान (आरोप) है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-24, नूर, आयत-12)

आयते-बराअत (बेगुनाही साबित करनेवाली आयत) के नाज़िल होने से हज़रत उम्मे रूमान (रज़ि०) को बहुत ख़ुशी हुई और हज़रत आइशा (रज़ि०) का सिर भी फ़ख़्र से ऊँचा हो गया। माँ ने बेटी से कहा, "बेटी उठो और अपने शौहर का शुक्रिया अदा करो।"

हज़रत आइशा (रज़ि०) ने बड़े नाज़ से जवाब दिया, "मैं तो सिर्फ़ अपने रब की एहसानमन्द और शुक्रगुज़ार हूँ जिसने मेरे बेगुनाह होने की गवाही दी।"

उसी साल के आख़िर में एक और यादगार वाक़िआ पेश आया। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) सुफ़्फ़ावालों में से तीन लोगों को अपने घर मेहमान लाए। फिर उन्हें वहाँ छोड़कर नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में गए। वहाँ उन्हें देर हो गई। घर वापस आए तो हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) ने पूछा, "मेहमानों को यहाँ छोड़कर आप कहाँ चले गए थे?"

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने जवाब दिया, "मैं नबी (सल्ल०) के पास था, तुम मेहमान को खाना खिला देतीं।"

हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) ने कहा, "मैंने उन्हें खाना भेज दिया था, लेकिन उन्होंने आपके बग़ैर खाना पसन्द नहीं किया।"

अब हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) खुद खाना लेकर गए और तीनों बुज़ुर्गों को खाना खिलाया। इस खाने में इतनी बरकत हुई कि मेहमानों और घर के लोगों के पेट-भर खा लेने के बाद भी बहुत-सा खाना बच गया। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) से पूछा, "कितना खाना बच गया?" उन्होंने कहा, "तीन गुने से भी ज़्यादा।"

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने यह सारा खाना नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में भेज दिया।

हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) का इन्तिक़ाल कब हुआ इस बारे में सीरत-निगारों में इख़्तिलाफ़ है। किसी ने सन् 4 हिजरी लिखा है और किसी ने सन् 5 हिजरी। किसी ने 6 और 9 हिजरी भी बयान किया है।

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने दलीलों से साबित किया है कि हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) का इन्तिक़ाल सन् 9 हिजरी से पहले नहीं हुआ। ज़्यादातर सीरत-निगार इसी रिवायत को सही मानते हैं। नबी (सल्ल०) हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) की बहुत इज़्ज़त करते थे। उन्हें दफ़न करते वक़्त आप (सल्ल०) ख़ुद क़ब्र में उतरे और उनके लिए मग़फ़िरत की दुआ की।

अल्लामा इब्ने-साद (रह०) ने हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०) के बारे में लिखा है, "उम्मे-रूमान बहुत नेक ख़ातून थीं।"

हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि०)
(ज़ातुन-निताक़ैन)

जिस रात नबी (सल्ल०) हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के साथ हिजरत करके सौर नामी पहाड़ की गुफा में तशरीफ़ ले गए, उस रात मक्का के मुशरिक आप (सल्ल०) के घर की घेराबन्दी करके इस बात का इन्तिज़ार करते रहे कि नबी (सल्ल०) कब घर से बाहर तशरीफ़ लाएँ और वे अपना नापाक मन्सूबा पूरा करें। लेकिन उन अभागों को यह मालूम नहीं था कि अल्लाह ने उस रात उनकी आँखों पर पर्दा डाल दिया था और नबी (सल्ल०) सूरा यासीन की शुरू की आयतें पढ़ते हुए उनके बीच से निकलकर मक्का को अलविदा कह चुके थे। जब सुबह का उजाला फैला और उन्होंने नबी (सल्ल०) के बिस्तर पर हज़रत अली (रज़ि०) को आराम

फ़रमाते देखा तो अपना सिर पीटकर रह गए। सारी बात उनकी समझ में आ गई, लेकिन अब क्या हो सकता था? उनका सरदार अबू-जह्ल अपने मन्सूबे की नाकामी पर ग़म और ग़ुस्से से दीवाना हो गया और सीधा हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के घर पहुँचकर ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाने लगा। अन्दर से एक नौजवान लड़की बाहर आई। अबू-जह्ल ने कड़ककर पूछा, "लड़की तेरा बाप कहाँ है?"

उसने जवाब दिया, "मैं क्या बता सकती हूँ!"

यह सुनकर अबू-जह्ल ने उस लड़की के चेहरे पर इस ज़ोर से थप्पड़ मारा कि कान की बाली टूटकर दूर जा पड़ी। मज़लूम लड़की बड़े सब्र और ख़ामोशी के साथ घर के अन्दर चली गई और अबू-जह्ल भी बकता-झकता वहाँ से चला गया।

यह लड़की जिसने ज़ालिम अबू-जह्ल के भड़कते ग़ुस्से की ज़रा परवाह न की और हिजरत के राज़ को अपने दिल की गहराइयों में छिपाए रखा, नबी (सल्ल०) के 'यारे-ग़ार' (गुफ़ा के साथी) हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की बड़ी बेटी हज़रत असमा (रज़ि०) थीं।

हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र (रज़ि०) बड़े बुलन्द मर्तबे की सहाबिया थीं। नसब का सिलसिला यह है: असमा-बिन्ते-अबू-बक्र-बिन-अबू-क़ुहाफ़ा-बिन-उसमान-बिन-आमिर-बिन-अम्र-बिन-काब-बिन-साद-बिन-तैम-बिन-मुर्रा-बिन-काब-बिन-लुई क़ुरशी।

माँ का नाम क़ुतैला-बिन्ते-अब्दुल-उज़्ज़ा था। नाना अब्दुल-उज़्ज़ा क़ुरैश के नामी रईस थे। उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आइशा (रज़ि०) हज़रत असमा (रज़ि०) की सौतेली बहन थीं और इनसे उम्र में छोटी थीं। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अबू-बक्र (रज़ि०) हज़रत असमा (रज़ि०) के सगे भाई थे।

हज़रत असमा (रज़ि०) की पैदाइश नबी (सल्ल०) की हिजरत से 27 साल पहले मक्का में हुई। उनके बाप हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) बुलन्द अख़लाक़ और अच्छी आदतों के मालिक थे। ज़ाहिर है कि ऐसे नेक दिल और शरीफ़ बाप की छाया में उनकी कैसी तरबियत हुई होगी!

इस्लाम क़बूल करने में भी हज़रत असमा (रज़ि०) दूसरों से बहुत आगे हैं। वे उस वक़्त इस्लाम की छाया में आईं जब कि सिर्फ़ सत्रह पाकीज़ा हस्तियाँ छुपकर ईमान लाई थीं। इस तरह साबिक़ूनल-अव्वलून (पहले-पहल इस्लाम क़बूल करनेवाले लोग) में इनका अठ्ठारहवाँ नम्बर है।

हज़रत असमा (रज़ि०) का निकाह हज़रत ज़ुबैर-बिन-अव्वाम (रज़ि०) से हुआ। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) असहाबे-अशरा-ए-मुबश्शरा' में से एक हैं। यानी वे उन दस ख़ुशनसीब सहाबियों में से हैं जिन्हें नबी (सल्ल०) ने उनकी ज़िन्दगी ही में जन्नत की ख़ुशख़बरी सुना दी थी। वे नबी (सल्ल०) के फुफेरे भाई और उम्मुल-मोमिनीन हज़रत ख़दीजा (रज़ि०) के सगे भतीजे थे।

सन् 4 नबवी के शुरू में नबी (सल्ल०) ने खुल्लम-खुल्ला इस्लाम की तरफ़ बुलाना शुरू किया तो मुशरिकों के ग़ुस्से और ग़ज़ब (प्रकोप) का ज्वालामुखी फट पड़ा और वे मुसलमानों पर ऐसे-ऐसे ज़ुल्म ढाने लगे कि इनसानियत सिर पीटकर रह गई। हज़रत असमा (रज़ि०) ने ज़ुल्म और सितम की ऐसी कई घटनाएँ अपनी आँखों से देखी थीं। मुसनद अबू-यअ़ला में रिवायत है कि एक बार लोगों ने हज़रत असमा (रज़ि०) से पूछा कि नबी (सल्ल०) को इस्लाम-दुश्मनों से जो तकलीफें पहुँचीं, आपने उनमें कौन-सी तकलीफ़ सबसे ज़्यादा सख़्त देखी?

हज़रत असमा (रज़ि०) ने बयान किया, "एक दिन बहुत-से मुशरिक मस्जिदे-हराम में बैठकर नबी (सल्ल०) के ख़िलाफ़ अपने दिल की भड़ास निकाल रहे थे कि मुहम्मद ने हमारे माबूदों (देवताओं) को यह कहा और वह कहा। उसी वक़्त नबी (सल्ल०) वहाँ तशरीफ़ ले आए। सारे मुशरिक नबी (सल्ल०) पर झपट पड़े। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) तक उनके शोर और हंगामे की आवाज़ पहुँची। उस वक़्त वे घर में हमारे पास बैठे थे कि किसी ने आकर बताया कि क़ुरैश मुहम्मद (सल्ल०) को क़त्ल करने पर तुले हैं। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) मस्जिदे-हराम तक भागकर गए। उस वक़्त उनके सिर पर बालों की चार लटें थीं और वे इस्लाम-दुश्मनों से कह रहे थे, "तुम्हारी तबाही हो! क्या तुम उस आदमी का क़त्ल करना चाहते हो जो यह कहता है कि मेरा रब अल्लाह है और वह तुम्हारे पास अपने रब की तरफ़ से खुली-खुली निशानियाँ लेकर आया है?" मुशरिकों ने नबी (सल्ल०) को तो छोड़ दिया और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) पर टूट पड़े और इतना मारा-पीटा कि वे बेहोश हो गए। जब उन्हें उठाकर घर लाया गया तो ज़ख़्मों की वजह से उनकी यह हालत थी कि हम सिर की जिस लट को हाथ लगाते थे, बाल झड़ जाते थे और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) कह रहे थे, "तबारक-त या ज़ल-जलालि वल-इकराम" (बड़ा बकरतवाला है तू ऐ अज़मत और जलाल के मालिक और इकरामवाले।)

हज़रत असमा (रज़ि०) के दिल पर नबी (सल्ल०), अपने बाप हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) और दूसरे मुसलमानों पर ज़ुल्म और सितम के टूटते पहाड़ को देखकर जो कुछ गुज़रती होगी उसका अन्दाज़ा लगाना मुश्किल नहीं, लेकिन फिर भी वे सब्र और साबित-क़दमी से ये मुसीबतें सहती रहीं, यहाँ तक कि अल्लाह ने अपने महबूब (सल्ल०) को मदीना की तरफ़ हिजरत की इजाज़त दे दी।

हिजरत के सफ़र में हज़रत असमा (रज़ि०) के बाप को नबी (सल्ल०) का हमसफ़र बनने की ख़ुशनसीबी हासिल हुई। हिजरत की रात को नबी (सल्ल०) ने अपने मुबारक बिस्तर पर अपने जाँनिसार चचेरे भाई हज़रत अली (रज़ि०) को सुलाया और सूरा यासीन की शुरू की आयात पढ़ते हुए हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के घर पहुँचे। मुशरिकों को अल्लाह ने ऐसा बेख़बर किया कि उन्हें पता ही न चला कि नबी (सल्ल०) कब अपने घर से बाहर तशरीफ़ ले गए। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने फ़ौरन हज़रत असमा (रज़ि०) और हज़रत आइशा (रज़ि०) के साथ मिलकर सफ़र का सामान दुरुस्त किया। हज़रत असमा (रज़ि०) ने दो-तीन दिन का खाना तैयार कर रखा था, उसे एक थैली में डाला और एक मशकीज़े में पानी भरा। इत्तिफ़ाक़ से थैले और मशकीज़े का मुँह बाँधने के लिए कोई रस्सी घर में मौजूद नहीं थी और वक़्त का एक-एक पल क़ीमती था। हज़रत असमा (रज़ि०) ने तुरन्त अपना निताक़ (वह रुमाल या कपड़ा जो उस ज़माने में औरतें क़मीज़ के उपर कमर पर लपेटती थीं) खोलकर उसके दो टुकड़े किए। एक से खाने के थैले का मुँह बाँधा और दूसरे से मशकीज़े का। नबी (सल्ल०) हज़रत असमा (रज़ि०) की इस ख़िदमत से बहुत ख़ुश हुए और उन्हें "ज़ातुन-निताक़ैन" (दो कमरबन्दवाली) का लक़ब दिया।

कुछ रिवायतों में इस वाक़िए को यूँ बयान किया गया है कि हिजरत की रात नबी (सल्ल०) हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के साथ निकले और सौर नामी गुफा में ठहरे। हज़रत असमा (रज़ि०) इस राज़ को जानती थीं। वे हर दिन अपने भाई अब्दुल्लाह-बिन-अबू-बक्र (रज़ि०) के साथ छिपकर सौर नामी गुफा में जातीं और नबी (सल्ल०) और अपने बाप को ताज़ा खाना खिलाकर वापस आतीं। तीसरी रात के आख़िरी हिस्से में अब्दुल्लाह-

बिन-उरैक़ित[1] जिसे रास्ता दिखाने के लिए मुक़र्रर किया गया था, दो ऊँटनियाँ लेकर सौर नामी गुफा आ पहुँचा। उसी वक़्त हज़रत असमा (रज़ि०) भी एक थैले में खाना लेकर आ गईं। जल्दी में घर से चलते वक़्त बाँधने की कोई चीज़ साथ लाने का ख़याल न रहा, इसलिए उन्होंने अपना निताक़ खोलकर उसे फाड़ा। एक हिस्से से थैली का मुँह बाँधकर एक ऊँटनी के कजावे के साथ लटकाया और दूसरा हिस्सा अपनी कमर पर लपेट लिया। इसी लिए उन्हें "ज़ातुन-निताक़ैन" (दो कमरबंदवाली) कहा जाता है।

सहीह बुख़ारी में हज़रत असमा (रज़ि०) का अपना बयान है कि जब खाने का थैला बाँधने की कोई चीज़ न मिली तो मेरे बाप ने मुझे अपना निताक़ फाड़ने को कहा। इसी वजह से मेरा नाम "ज़ातुन-निताक़ैन" रखा गया। कुछ रिवायतों में उनका लक़ब "जातुन-निताक़" बयान किया गया है। सहीह बुख़ारी में हज़रत आइशा (रज़ि०) से रिवायत है कि हज़रत असमा (रज़ि०) ने अपने निताक़ का एक टुकड़ा फाड़ा और उसको थैले के मुँह पर लपेटा, इसी लिए उनका नाम "ज़ातुन-निताक़" पड़ गया।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि०) इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) के बारे में कहा करते थे कि इनकी माँ "ज़ातुन-निताक़" हैं।

इन रिवायतों से मालूम होता है कि लोग हज़रत असमा

---

[1] अब्दुल्लाह-बिन-उरैक़ित का ताल्लुक़ बनू-दील से था। वह था तो ग़ैर-मुस्लिम, लेकिन भरोसे के क़ाबिल आदमी था। जब किसी से कोई मामला करता था तो उसे जान पर खेलकर पूरा करता। अरब के सारे रास्तों को अच्छी तरह जानता था। इसी लिए हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उसे मज़दूरी पर रास्ता दिखाने के लिए तय किया था और दो ऊँटनियाँ उसे यह समझाकर दी थीं कि जिस वक़्त और जिस जगह हम बुलाएँ ख़ामोशी से ऊँटनियाँ लेकर वहाँ आ जाना।

(रज़ि०) को "ज़ातुन-निताक़ैन" भी कहते थे और "ज़ातुन-निताक़" भी।

सच्चाई जो भी हो, हज़रत असमा (रज़ि०) को इस ख़िदमत की वजह से नबी (सल्ल०) ने जो लक़ब दिया वह आज चौदह सौ सदियाँ गुज़रने के बाद भी ज़िन्दा है और क़ियामत तक ज़िन्दा रहकर इज़्ज़त को बढ़ाता रहेगा।

जिस रात नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने हिजरत की, उसकी सुबह को वह घटना घटी जिसकी चर्चा ऊपर हुई है। जब अबू-जह्ल बकता-झकता चला गया तो हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के अंधे बाप अबू-क़ुहाफ़ा (उसमान-बिन-आमिर, जो उस वक़्त तक ईमान न लाए थे) हज़रत असमा (रज़ि०) से बोले, "बेटी, अबू-बक्र ने तुम्हें दोहरी मुसीबत में डाला है, ख़ुद भी चला गया और सारा माल भी साथ ले गया।"

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) सचमुच घर में रखा हुआ सारा रुपया साथ ले गए थे। लेकिन हज़रत असमा (रज़ि०) ने बूढ़े-कमज़ोर और अंधे दादा का दिल तोड़ना मुनासिब नहीं समझा और जवाब दिया—

"नहीं दादा जान! उन्होंने हमारे लिए ढेर सारा माल छोड़ा है।"

फिर उन्होंने कपड़े में कुछ पत्थर रखकर उसकी पोटली बनाई और उसे उस गड्ढे या ताक़ में रख दिया जहाँ हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) अपना माल रखा करते थे। इसके बाद वे अबू-क़ुहाफ़ा का हाथ पकड़कर वहाँ ले गईं और बोलीं, "दादा जान! आप हाथ लगाकर देख लें, यह क्या रखा है?"

अबू-क़ुहाफ़ा ने कपड़े की उस पोटली पर हाथ रखा तो उन्हें इत्मीनान हो गया, बोले, "अबू-बक्र ने अच्छा किया, तुम्हारे लिए काफ़ी इन्तिज़ाम कर गया!"

हिजरत के बाद नबी (सल्ल०) कुछ दिन क़ुबा में ठहरे और फिर मदीना तशरीफ़ ले गए। कुछ महीनों के बाद नबी (सल्ल०) ने हज़रत ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि०) और हज़रत अबू-राफ़े (रज़ि०) को मक्का भेजा ताकि वे आप (सल्ल०) के घरवालों को मदीना ले आएँ। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उन दोनों के साथ अब्दुल्लाह-बिन-उरैक़ित को अपने बेटे अब्दुल्लाह के नाम ख़त देकर भेजा कि वे भी अपनी माँ उम्मे-रूमान और बहनों को मदीना ले आएँ। इस तरह हज़रत ज़ैद (रज़ि०) और हज़रत अबू-राफ़े (रज़ि०) अपने साथ उम्मुल-मोमिनीन हज़रत सौदह (रज़ि०), हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०), हज़रत उम्मे-कुलसूम (रज़ि०), हज़रत उम्मे-ऐमन (रज़ि०) और हज़रत उसामा-बिन-ज़ैद (रज़ि०) को ले आए। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अबू-बक्र (रज़ि०) हज़रत उम्मे-रूमान (रज़ि०), हज़रत असमा (रज़ि०) और हज़रत आइशा (रज़ि०) को साथ लेकर मदीना पहुँचे।

एक रिवायत में है कि हज़रत असमा (रज़ि०) ने कुछ दिनों के बाद अपने शौहर हज़रत ज़ुबैर-बिन-अव्वाम (रज़ि०) और सास हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) के साथ हिजरत की और क़ुबा में ठहरीं। लेकिन ज़्यादातर सीरत-निगारों ने पहली बात को सही कहा है।

सहीह बुख़ारी में हज़रत उरवा-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) से रिवायत है कि नबी (सल्ल०) की हिजरत से कुछ पहले हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) एक क़ाफ़िले के साथ तिजारत के लिए सीरिया गए थे। नबी (सल्ल०) की हिजरत के सफ़र के दौरान, वे सीरिया से लौट रहे थे। रास्ते में किसी जगह नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से मुलाक़ात हो गई। उन्होंने नबी (सल्ल०) और अपने ससुर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की ख़िदमत में कुछ सफ़ेद कपड़े तोहफ़े के तौर

पर पेश किए फिर आप दोनों यही कपड़े पहनकर मदीना में दाख़िल हुए। मक्का वापस पहुँचकर हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने भी हिजरत की तैयारी की और अपनी माँ हज़रत सफ़ीया (रज़ि०) को साथ लेकर मदीना आ गए। कहा जाता है कि वे क़ुबा में बस गए और वहीं हज़रत असमा (रज़ि०) को भी बुला लिया।

हिजरत के बाद एक मुद्दत तक किसी मुहाजिर के यहाँ औलाद नहीं हुई। इसपर मदीना के यहूदियों ने मशहूर कर दिया कि हमने मुसलमानों पर जादू कर दिया है और उनकी नस्ल का सिलसिला रोक दिया गया है। इन्हीं दिनों सन् 1 हिजरी में हज़रत असमा (रज़ि०) के यहाँ अब्दुल्लाह (रज़ि०) की पैदाइश हुई। इस तरह हिजरत के बाद मुसलमानों के यहाँ पैदा होनेवाले वे सबसे पहले बच्चे थे[1]। मुसलमानों को हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) की पैदाइश पर बहुत ख़ुशी हुई और उन्होंने ख़ुशी में इतनी ज़ोर से तकबीर का नारा बुलन्द किया कि आवाज़ दूर-दूर तक गूँज उठी। यहूदी सख़्त शर्मिन्दा हुए क्योंकि उनके झूठ और धोखे का पर्दा चाक हो गया।

हज़रत असमा (रज़ि०) नन्हें बच्चे (अब्दुल्लाह) को गोद में लेकर नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में आईं। आप (सल्ल०) ने बच्चे को अपनी गोद में ले लिया, एक खजूर अपने मुँह में डालकर चबाई और फिर उसे अपने मुँह के लुआब (थूक) के साथ मिलाकर बच्चे

---

[1] कुछ रिवायतों में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) की पैदाइश का साल सन् 2 हिजरी बताया गया है और यह भी बताया गया है कि उनकी पैदाइश से छः महीने पहले हज़रत बशीर-बिन-साद अंसारी के बेटे नोमान-बिन-बशीर पैदा हो चुके थे। अगर यह रिवायत दुरुस्त है तब भी हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर मुहाजिरों में पैदा होनेवाले सबसे पहले बच्चे थे।

के मुँह में डाला। इसके बाद नबी (सल्ल०) ने बच्चे के लिए ख़ैरो-बरकत की दुआ माँगी।

उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आइशा (रज़ि०) ने अपने इन्ही भाँजे के नाम पर अपनी कुन्नियत 'उम्मे-अब्दुल्लाह' रखी थी।

मदीना (कुबा) में बसने के बाद हज़रत असमा (रज़ि०) ने पहले कुछ साल बड़ी तंगी और मुश्किल में गुज़ारे। इस ज़माने में उनके शौहर हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) बहुत ग़रीब थे। उनके पास बस एक ऊँट और एक घोड़ा था। नबी (सल्ल०) ने उन्हें बनू-नज़ीर के नख़्लिस्तान में कुछ ज़मीन जागीर के तौर पर दी थी। शुरू-शुरू में वे उसमें खेती करके अपनी रोज़ी जुटाते थे। यह ज़मीन मदीना से तीन फ़र्सख़ (1 फ़र्सख़, लगभग सवा दो मील) दूर थी। हज़रत असमा (रज़ि०) हर दिन वहाँ से गुठलियाँ जमा करके लातीं, उन्हें कूटकर ऊँट को खिलातीं, घोड़े के लिए घास लातीं, पानी भरतीं, मश्क फट जाती तो उसको सीतीं। इन कामों के अलावा घर के सारे काम वे ख़ुद करतीं। रोटी अच्छी तरह नहीं पका सकती थीं। पड़ोस में कुछ अंसारी औरतें थीं, वे मुहब्बत में उनकी रोटियाँ पका दिया करती थीं।

सहीह बुख़ारी में हज़रत असमा (रज़ि०) ही से रिवायत है, "ज़ुबैर ने मुझसे निकाह किया, उस वक़्त न तो उनके पास ज़मीन थी, न ग़ुलाम और न कुछ और, सिवाए एक ऊँट और एक घोड़े के। मैं उनके घोड़े को दाना खिलाती थी, पानी भरती थी, डोल सीती थी, आटा गूँधती थी। अंसार की कुछ औरतें जो मेरी पड़ोसन थीं, मुहब्बत में रोटी पका देती थीं। वे अपनी मुहब्बत में सच्ची थीं। मैं ज़ुबैर की ज़मीन से, जो उन्हें नबी (सल्ल०) ने दी थी, सिर पर गुठलियाँ रखकर लाती थी। यह ज़मीन मेरे घर से तीन

फ़र्सख़ दूर थी।"

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) और तबरानी (रह०) ने हज़रत असमा (रज़ि०) की ग़रीबी के ज़माने का एक दिलचस्प वाक़िआ बयान किया है जिसे ख़ुद हज़रत असमा (रज़ि०) ने रिवायत किया है, वे कहती हैं—

"एक बार मैं उस ज़मीन में थी जिसे नबी (सल्ल०) ने ज़ुबैर और अबू-सलमा को दिया था। यह बनू-नज़ीरवाली ज़मीन कहलाती थी। एक दिन ज़ुबैर नबी (सल्ल०) के साथ कहीं गए थे। हमारा एक यहूदी पड़ोसी था। उसने बकरी ज़िब्ह की और भूनी। उसकी ख़ुशबू जब मेरी नाक में पहुँची तो मुझे ऐसी सख़्त भूख लगी जो इससे पहले कभी नहीं लगी थी। उन दिनों मेरी बेटी ख़दीजा पैदा होनेवाली थी। मुझसे सब्र न हो सका। मैं यहूदी औरत के पास आग लेने के इरादे से इसलिए गई कि शायद वह मुझसे खाने के बारे में पूछे, वरना मुझे आग की कोई ज़रूरत नहीं थी। वहाँ पहुँचकर ख़ुशबू से मेरी भूख और बढ़ गई। लेकिन उस यहूदी औरत ने खाने की कोई बात ही न की। मैं आग लेकर अपने घर आ गई और कुछ देर बाद फिर यहूदी औरत के घर गई, फिर भी उसने खाने की बात न की। तीसरी बार फिर मैंने उसके घर का चक्कर काटा लेकिन किसी ने कुछ न पूछा। अब मैं अपने घर में बैठकर रोने लगी और अल्लाह से दुआ की, 'ऐ अल्लाह मेरी भूख मिटाने का इन्तिज़ाम कर दे।' उसी वक़्त यहूदी औरत का शौहर अपने घर आया और आते ही उससे पूछा, 'क्या तुम्हारे पास कोई आया था?' उस यहूदी औरत ने कहा, 'हाँ, पड़ोस की अरब औरत आई थी।' यहूदी ने कहा, 'जब तक उस गोश्त में से उसके पास कुछ न भेजेगी, मैं उसको नहीं खाऊँगा।' (क्योंकि उसे डर था कि कहीं

खाने में नज़र न लग गई हो) इसके बाद उस यहूदी औरत ने गोश्त का एक प्याला मेरे पास भेज दिया। उस वक़्त वह खाना मेरे लिए बहुत पसन्दीदा और लज़्ज़त देनेवाला था।"

यह रिवायत हज़रत असमा (रज़ि०) की सच्चाई पर गवाह है। इसमें उन्होंने अपनी ग़रीबी और एक इनसानी कमज़ोरी का हाल साफ़-साफ़ बयान कर दिया है।

उसी ज़माने में एक दिन हज़रत असमा (रज़ि०) खजूर की गुठलियों का गट्ठर सिर पर रखे चली आ रही थीं। रास्ते में नबी (सल्ल०) कुछ सहाबियों (रज़ि०) के साथ मिल गए। नबी (सल्ल०) ने अपने ऊँट को बैठाया और चाहा कि हज़रत असमा (रज़ि०) उसपर सवार हो जाएँ, लेकिन हज़रत असमा (रज़ि०) शर्म की वजह से ऊँट पर नहीं बैठीं और घर पहुँचकर हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) को सारी बात सुनाई। उन्होंने कहा, "सुब्हानल्लाह, सिर पर बोझ लादने में शर्म नहीं आई लेकिन नबी (सल्ल०) के ऊँट पर बैठने में शर्म रुकावट बन गई!"

कुछ मुद्दत बाद हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) और हज़रत असमा (रज़ि०) को एक ग़ुलाम दिया। उसने ऊँट और घोड़े की देखभाल की ज़िम्मेदारी सम्भाल ली और हज़रत असमा (रज़ि०) की परेशानी कम हुई।

शुरू-शुरू में हज़रत असमा (रज़ि०) ग़रीबी की वजह से हर चीज़ को नाप-तोलकर ख़र्च करती थीं। नबी (सल्ल०) को मालूम हुआ तो आप (सल्ल०) ने हज़रत असमा (रज़ि०) से फ़रमाया, "असमा, नाप-तोलकर ख़र्च मत किया करो वरना अल्लाह भी नपी-तुली रोज़ी देगा।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) की नसीहत को अपनी

गाँठ में बाँध लिया और खुले दिल से ख़र्च करने लगीं। अल्लाह की क़ुदरत का करना ऐसा हुआ कि उसी वक़्त से हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) की आमदनी बढ़ने लगी और थोड़े ही दिनों में उनके घर में दौलत की रेल-पेल हो गई।

खुशहाली आने के बाद भी हज़रत असमा (रज़ि०) ने अपनी सादगी नहीं छोड़ी। हमेशा रूखी-सूखी रोटी से पेट भरती रहीं और मोटा-झोटा कपड़ा पहनती रहीं। लेकिन अपनी दौलत भलाई के कामों में ख़ूब ख़र्च करतीं। जब कभी बीमार होतीं, तमाम ग़ुलामों को आज़ाद कर देतीं। अपने बच्चों को हमेशा नसीहत करतीं कि माल जमा करने के लिए नहीं बल्कि ज़रूरतमन्दों की मदद के लिए होता है। अगर तुम कंजूसी करोगे तो अल्लाह की रहमत और मेहरबानी से महरूम रह जाओगे। हाँ, जो सदक़ा करोगे और अल्लाह की राह में ख़र्च करोगे तो वह तुम्हारे काम आएगा क्योंकि इस दौलत के बरबाद होने का कोई ख़तरा नहीं। हज़रत असमा (रज़ि०) का रहन-सहन सारी ज़िन्दगी सादा ही रहा।

अल्लामा इब्ने-साद (रह०) का बयान है कि उनकी ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों में उनके बेटे मुंज़िर-बिन-ज़ुबैर (रह०) इराक़ की जीत के बाद लड़ाई के मैदान से वापस आए तो उनके ग़नीमत के माल में औरतों के क़ीमती कपड़े भी थे। उन्होंने ये क़ीमती कपड़े अपनी माँ की ख़िदमत में पेश किए तो हज़रत असमा (रज़ि०) ने ये क़ीमती कपड़े लेने से इनकार कर दिया और फ़रमाया, "बेटा, मुझे तो मोटा कपड़ा पसन्द है।" फिर मुंज़िर (रह०) उनके लिए मोटे कपड़े लाए जो उन्होंने खुशी-खुशी ले लिए और फ़रमाया, "बेटा, मुझे ऐसे कपड़े पहनाया करो।"

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) का बयान है कि मैंने

अपनी माँ से बढ़कर किसी को अल्लाह की राह में देनेवाला नहीं देखा।

एक दूसरी रिवायत में वे कहते हैं कि मैंने अपनी ख़ाला हज़रत आइशा (रज़ि०) और माँ हज़रत असमा (रज़ि०) से ज़्यादा दरयादिल और मेहरबान किसी और को नहीं देखा। फ़र्क़ यह था कि हज़रत आइशा थोड़ा-थोड़ा जोड़कर जमा करती थीं, जब कुछ रक़म जमा हो जाती तो सब-की-सब अल्लाह की राह में लुटा देती थीं और हज़रत असमा (रज़ि०) जो कुछ पाती थीं, उसी वक़्त बाँट देती थीं। हज़रत असमा (रज़ि०) को विरासत में हज़रत आइशा (रज़ि०) से एक जायदाद मिली थी। उन्होंने उसे एक लाख दिरहम पर बेच दिया और सारी रक़म क़ासिम-बिन-मुहम्मद (रह०) और इब्ने-अबू-अतीक़ (रह०) को (जो उनके क़रीबी रिश्तेदार थे) दे दी क्योंकि वे ज़रूरतमन्द थे। (यह घटना हज़रत आइशा (रज़ि०) के इन्तिक़ाल के बाद की है)

हज़रत असमा (रज़ि०) बहुत दानशील और खुले हाथों से ख़र्च करनेवाली औरत थीं इसके बावजूद वे अपने शौहर के घर-बार की हिफ़ाज़त बड़ी ईमानदारी से करती थीं। एक बार एक सौदागर उनके पास आया और दरख़ास्त की कि अपनी दीवार के साए में मुझे सौदा बेचने की इजाज़त दीजिए। उस वक़्त हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) घर पर नहीं थे। इसलिए बोलीं, "अगर मैं इजाज़त दे दूँ और ज़ुबैर इनकार करें तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। तुम ज़ुबैर की मौजूदगी में इजाज़त माँगना।"

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) घर तशरीफ़ लाए तो सौदागर फिर आया और दरवाज़े पर खड़े होकर दरख़ास्त की, "अब्दुल्लाह की अम्मी! मैं ग़रीब आदमी हूँ। आपकी दीवार के साए में कुछ सौदा बेचने की

इजाज़त चाहता हूँ।" वे बोलीं, "मेरे घर के सिवा तुम्हें मदीना में कोई और घर न मिला?" हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने फ़रमाया, "तुम्हारा क्या बिगड़ता है जो एक ग़रीब को सौदा बेचने से रोकती हो।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने फ़ौरन इजाज़त दे दी क्योंकि उनकी दिली ख़ाहिश भी यही थी।

हज़रत असमा (रज़ि०) का हाथ खुला था लेकिन हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के मिज़ाज में सख़्ती थी। हज़रत असमा (रज़ि०) ने एक दिन नबी (सल्ल०) से पूछा, "ऐ अल्लाह के रसूल! क्या मैं शौहर के माल से उनकी इजाज़त के बग़ैर यतीमों, ग़रीबों को कुछ दे सकती हूँ?"

नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "हाँ, दे सकती हो।"

एक बार नबी (सल्ल०) ने मुसलमानों को हुक्म दिया कि वे अल्लाह की राह में ज़्यादा सदक़ा करें। सहाबियों (रज़ि०) ने एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर इस हुक्म का पालन किया। सहाबियात (रज़ि०) ने अपने गहने तक उतारकर दे दिए। हज़रत असमा (रज़ि०) के पास एक कनीज़ (दासी) थी, उन्होंने उसे बेच दिया और रुपये लेकर बैठ गईं। जब हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) घर आए तो उन्होंने हज़रत असमा (रज़ि०) से वे रुपये माँगे। उन्होंने जवाब दिया "मैंने सदक़ा कर दिया है।"

हज़रत ज़ुबैर ख़ामोश हो गए क्योंकि वे भी अल्लाह और रसूल (सल्ल०) की ख़ुशनूदी चाहते थे।

हज़रत असमा (रज़ि०) बड़ी सच्ची और पक्के अक़ीदेवाली मुसलमान ख़ातून थीं। लेकिन उनकी माँ क़ुतैला-बिन्ते-अब्दुल-उज़्ज़ा ने इस्लाम नहीं क़बूल किया था। इसी लिए हज़रत अबू-बक्र

(रज़ि०) ने उनको हिजरत से पहले तलाक़ दे दी थी। (एक रिवायत के मुताबिक़ तलाक़ के बाद उन्होंने दूसरे आदमी से शादी कर ली थी।) सहीह बुख़ारी में है कि एक बार क़ुतैला मदीना आई और हज़रत असमा (रज़ि०) से कुछ रुपये माँगे। हज़रत असमा (रज़ि०) उनकी मदद करना चाहती थीं लेकिन उनके शिर्क की वजह से सोच में पड़ गईं कि मदद करें या न करें। इसलिए उन्होंने नबी (सल्ल०) से पूछा, "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरी माँ मुशरिक हैं और वे मुझसे रुपये माँगती हैं, क्या मैं उनकी मदद कर सकती हूँ?" नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "हाँ।" (यानी अपनी माँ के साथ भलाई का सुलूक करो।)

एक और रिवायत के मुताबिक़ आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "अल्लाह अच्छे सुलूक से नहीं रोकता।"

तब्क़ात इब्ने-साद और मुसनद अहमद में रिवायत है कि एक बार हज़रत असमा (रज़ि०) की माँ क़ुतैला उनके लिए कुछ तोहफ़े लेकर उनसे मिलने आईं। लेकिन हज़रत असमा (रज़ि०) ने इस बात को पसन्द नहीं किया कि वे अपनी मुशरिक माँ से तोहफ़े क़बूल करें और उन्हें अपने मकान में ठहराएँ। इसलिए उन्होंने हज़रत आइशा (रज़ि०) के ज़रिए से नबी (सल्ल०) से पूछा कि ऐसे मौक़े पर वे क्या करें?

नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "उनके तोहफ़े क़बूल कर लो और उनको अपने घर में मेहमान रखो।"

नबी (सल्ल०) की इजाज़त मिलने पर उन्होंने अपनी माँ को अपने घर ठहराया और उनके लाए हुए तोहफ़े क़बूल कर लिए।

हज़रत असमा (रज़ि०) बहुत परहेज़गार और बहुत इबादत करनेवाली थीं। इस वजह से उनकी बुज़ुर्गी की चर्चा चारों तरफ़

फैल गई थी और तरह-तरह के मरीज़ उनके पास दुआएँ कराने आते थे। अगर कोई बुख़ार का मरीज़ उनके पास आता तो उसके लिए दुआ करतीं और फिर उसके सीने पर पानी छिड़कतीं, अल्लाह उस मरीज़ को शिफ़ा दे देता। वे कहा करती थीं, "मैंने नबी (सल्ल०) से सुना है कि बुख़ार जहन्नम की आग की गर्मी है, उसे पानी से ठंडा करो।"

अगर हज़रत असमा (रज़ि०) को कभी सिर में दर्द होता तो अपने सिर को हाथ में पकड़कर कहतीं, "ऐ अल्लाह! हालाँकि मैं बहुत गुनाहगार हूँ लेकिन तेरी रहमत और मेहरबानी की कोई हद नहीं है।" अल्लाह उन्हें आराम दे देता।

एक बार नबी (सल्ल०) कुसूफ़ (सूरज-ग्रहण) की नमाज़ पढ़ा रहे थे। आप (सल्ल०) के पीछे कई सहाबियात (रज़ि०) जिनमें हज़रत असमा (रज़ि०) भी शामिल थीं, नमाज़ पढ़ रही थीं। नबी (सल्ल०) ने कई घंटे की लम्बी नमाज़ पढ़ाई। हज़रत असमा (रज़ि०) कमज़ोर थीं, थककर चूर-चूर हो गईं लेकिन बड़ी हिम्मत से खड़ी रहीं। जब नमाज़ ख़त्म हुई तो बेहोश होकर गिर गईं। चेहरे और सिर पर पानी छिड़का गया तो होश में आईं।

सहीह बुख़ारी में हज़रत असमा (रज़ि०) से रिवायत है कि एक बार सूरज-ग्रहण लगा तो मैं आइशा के पास गई। वहाँ देखा कि लोग नामज़ पढ़ रहे हैं और आइशा भी नमाज़ पढ़ रही हैं। मैंने उनसे पूछा, "लोगों को क्या हुआ?" उन्होंने आसमान की तरफ़ इशारा किया और कहा, "सुब्हानल्लाह।" 'मैंने पूछा, "यह अल्लाह की निशानी है?" उन्होंने इशारे से 'हाँ' में जवाब दिया तो मैं भी नमाज़ के लिए खड़ी हो गई। नमाज़ इतनी लम्बी हुई कि थकावट के मारे मुझे चक्कर आ गया और बाद में मैंने अपने सिर पर पानी

डाला। नमाज़ के बाद नबी (सल्ल०) ने अल्लाह की तारीफ़ बयान की, फिर फ़रमाया, "मैंने अभी जो कुछ देखा है इससे पहले कभी नहीं देखा था। यहाँ तक कि जन्नत और जहन्नम भी मुझे दिखाई गई। मुझे बताया गया कि तुम लोग क़ब्रों मे आज़माए जाओगे, जैसा कि दज्जाल के फ़ितने के वक़्त तुम्हें आज़माया जाएगा। फ़रिश्ते तुममें से हर एक के पास आएँगे और मेरा चेहरा दिखाकर पूछेंगे, 'क्या तुम इनको जानते हो?' मोमिन जवाब देगा, 'ये अल्लाह के रसूल मुहम्मद हैं जो हमारी तरफ़ अल्लाह का दीन लेकर आए। हम इनपर ईमान लाए और हमने इनकी पैरवी की।' फिर फ़रिश्ते उनसे कहेंगे कि तुम अब चैन की नींद सो जाओ क्योंकि हमें मालूम हो गया कि तुम मोमिन हो। एक मुनाफ़िक या शंका में रहनेवाला आदमी जवाब देगा, 'मुझे मालूम नहीं, लेकिन मैंने लोगों को कुछ कहते सुना और मैंने भी (उनकी देखा-देखी) इसी तरह कह दिया।' (तब उसे फ़रिश्तों के ग़ुस्से का सामना करना पड़ेगा।)"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने अपनी ज़िन्दगी में कई हज किए। उन्होंने पहला हज नबी (सल्ल०) के साथ किया था और उसकी छोटी-छोटी बात भी उन्हें अच्छी तरह याद थी।

नबी (सल्ल०) के इन्तिक़ाल के बाद एक बार हज के लिए गईं और मुज़दलफ़ा में ठहरीं तो रात को नमाज़ पढ़ी। चाँद डूबने के बाद 'रमी' के लिए गईं और फिर सुबह की नमाज़ पढ़ी। एक ग़ुलाम जो उनके साथ था कहने लगा, "आपने बड़ी जल्दी की!" उन्होंने फ़रमाया, "नबी (सल्ल०) ने पर्दा-नशीनों को इसकी इजाज़त दी है।" जब 'हजून' नामी इलाक़े से गुज़रतीं तो फ़रमातीं, "हम नबी (सल्ल०) के ज़माने में यहाँ ठहरे थे। उस वक़्त हमारे पास बहुत कम सामान था। मैंने, आइशा और ज़ुबैर ने उमरा किया था।"

हज़रत असमा (रज़ि०) बहुत निडर और बहादुर थीं। एक रिवायत में है कि नबी (सल्ल०) के इन्तिक़ाल के बाद वे अपने शौहर के साथ सीरिया के जिहाद में तशरीफ़ ले गईं थीं और कई दूसरी औरतों के साथ यरमूक की ख़ौफ़नाक लड़ाई में मुजाहिदों की ख़िदमत का काम अंजाम दिया था।

हज़रत सईद-बिन-आस (रज़ि०) जिस ज़माने में मदीना के गवर्नर थे उस वक़्त मदीना में हालात बहुत ख़राब हो रहे थे और चोरियाँ बहुत होने लगी थीं। उन हालात में हज़रत असमा (रज़ि०) अपने सिरहाने ख़ंजर (छुरा) रखकर सोया करती थीं। लोगों ने पूछा, "आप ऐसा क्यों करती हैं?" उन्होंने जवाब दिया, "अगर कोई चोर या डाकू मेरे घर आएगा तो इस ख़ंजर से उसका पेट फ़ाड़ दूँगी।"

हज़रत असमा (रज़ि०) की याद रखने की ताक़त बहुत अच्छी थी वे कभी-कभी अपने बचपन और जवानी के वाक़िए बयान करती थीं। 'वाक़िय-ए-फ़ील' (हाथियोंवाली घटना) तारीख़ का मशहूर वाक़िया है, इसकी चर्चा क़ुरआन में भी हुई है। यह वाक़िया यूँ पेश आया कि यमन के हबशी हाकिम 'अब्रहा' ने एक बड़ी फ़ौज के साथ मक्का पर चढ़ाई की थी। उसकी फ़ौज में 'महमूद' नामी एक बहुत बड़ा हाथी और कुछ दूसरे (रिवायतों के मुताबिक़ सात, आठ या बारह) हाथी भी शामिल थे। अल्लाह ने इस लश्कर पर चिड़ियों के झुण्ड-के-झुण्ड भेज दिए जो 'असहाबे-फ़ील' (हाथीवालों) पर कंकरियाँ बरसाने लगे और देखते-ही-देखते उनका हाल खाए हुए भूसे जैसा हो गया। अल्लाह की क़ुदरत से उस फ़ौज में से दो आदमी, एक महावत और एक चरकटा (हाथी के लिए चारा लानेवाला), किसी तरह बच गए लेकिन उनकी ज़िन्दगी मौत से भी बदतर थी क्योंकि वे अंधे और लुंजे (हाथ-पाँव से बेकार) हो गए

थे। माना जाता है कि अल्लाह ने उन्हें ऐसी निशानी बनाकर ज़िन्दा रखा था जिससे दूसरों को नसीहत हासिल हो। हज़रत असमा (रज़ि०) से रिवायत है कि उन्होंने उन दोनों लुंजों को इसाफ़ और नाइला (बुतों के नाम) के पास बैठकर भीख माँगते देखा है।

हज़रत उमर (रज़ि०) के चचेरे भाई ज़ैद-बिन-अम्र-बिन-नुफ़ैल अदवी क़ुरशी उन नेक इनसानों में से थे जो अरब की जाहिलियत के ज़माने में, जब कुफ़्र और शिर्क का घटा-टोप अंधेरा चारों तरफ़ छाया था, एक अल्लाह के माननेवाले थे। नबी (सल्ल०) की नुबूवत से पाँच साल पहले किसी ने उन्हें क़त्ल कर डाला था। एक बार उनकी नबी (सल्ल०) से मुलाक़ात भी हुई थी और नबी (सल्ल०) ने एक अल्लाह पर उनका यक़ीन और उनकी अख़लाक़ी ख़ूबियों को पसन्द किया था। हज़रत सईद-बिन-मुसय्यिब (रज़ि०) से रिवायत है कि एक बार हज़रत उमर (रज़ि०), ज़ैद के बेटे हज़रत सईद (रज़ि०) (जो उन दस ख़ुशनसीब सहाबियों में से हैं जिन्हें नबी (सल्ल०) ने उनकी ज़िन्दगी में ही जन्नत की ख़ुशख़बरी सुनाई) के साथ नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर हुए और कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! ज़ैद के ख़यालात आप जानते हैं। क्या हम उनके लिए मग़फ़िरत की दुआ करें?"

नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "अल्लाह ज़ैद-बिन-अम्र की मग़फ़िरत फ़रमाए और उनपर रहम करे, उनका इन्तिक़ाल इबराहीम (अलैहि०) के दीन पर हुआ है।"

एक और रिवायत में ज़ैद के बारे में नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया कि वे क़ियामत के दिन अकेले एक उम्मत की हैसियत से उठेंगे।

हज़रत असमा (रज़ि०) ने बचपन में ज़ैद को देखा था और उन्हें उनकी अख़लाक़ी ख़ूबियों का अच्छा अनुभव था।

सहीह बुख़ारी में हज़रत असमा (रज़ि०) से रिवायत है कि मैंने ज़ैद-बिन-अम्र-बिन-नुफ़ैल को देखा, वे काबा की दीवार का सहारा लिए खड़े थे और कह रहे थे, "ऐ क़ुरैश के लोगो! ख़ुदा की क़सम, मेरे सिवा तुममें से कोई इबराहीम (अलैहि०) के दीन पर नहीं है।"

जब कोई शख़्स अपनी लड़की को मार डालना चाहता था तो वे कहते थे कि इसे मत क़त्ल करो, इसका बोझ मैं उठाऊँगा। यह कहकर उस लड़की को अपने साथ ले जाते। जब वह जवान हो जाती तो उसके बाप से कहते कि अगर तुम चाहो तो इसको ले जा सकते हो वरना मेरे पास रहने दो, इसका ख़र्च मैं बरदाश्त कर लूँगा।

एक लम्बी मुद्दत तक शादीशुदा ज़िन्दगी गुज़ारने के बाद हज़रत असमा (रज़ि०) की ज़िन्दगी में एक अफ़सोसनाक घटना घटी। उन्हें उनके शौहर हज़रत ज़ुबैर-बिन-अव्वाम (रज़ि०) ने तलाक़ दे दी। सीरत-निगारों ने तलाक़ की कई वजहें बयान की हैं लेकिन सच्चाई तो अल्लाह को ही मालूम है। अनुमान है कि हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) और हज़रत असमा (रज़ि०) में कुछ घरेलू मामलों में इख़्तिलाफ़ पैदा हो गया था। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के मिज़ाज में कुछ सख़्ती थी। एक दिन किसी बात पर ग़ुस्से में आ गए और हज़रत असमा (रज़ि०) को मारना चाहा, इत्तिफ़ाक़ से उनके बड़े बेटे अब्दुल्लाह (रज़ि०) घर में मौजूद थे। हज़रत असमा (रज़ि०) ने उनसे मदद चाही, हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) ने हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) को दख़ल देने से मना किया और कहा कि अगर तुमने अपनी माँ का साथ दिया तो उसे तलाक़ है। हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) को यह बात अच्छी नहीं लगी कि वे अपनी आँखों के सामने अपनी माँ को पिटता देखें। इसलिए आगे बढ़े और माँ का हाथ हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के हाथ से छुड़ा लिया। इसके बाद हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०)

और हज़रत असमा (रज़ि०) में हमेशा के लिए जुदाई हो गई और हज़रत असमा (रज़ि०) अपने बड़े बेटे हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) के साथ रहने लगीं। वे अपनी माँ की बहुत ख़िदमत करते थे। वे अपनी ज़िन्दगी की आख़िरी साँस तक उनका पूरा ख़र्च उठाते रहे और उनकी देखभाल करते रहे।

हज़रत असमा (रज़ि०) बड़े हौसलेवाली और नेक-दिल ख़ातून थीं। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) से तलाक़ के बाद भी हमेशा उन्हें इज़्ज़त व एहतिराम से याद करती थीं और उनकी ख़ूबियों की तारीफ़ किया करती थीं।

सन् 36 हिजरी में हज़रत आइशा (रज़ि०) और हज़रत अली (रज़ि०) के बीच जमल की लड़ाई की अफ़सोसनाक घटना घटी। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) इस लड़ाई में हज़रत आइशा (रज़ि०) का साथ बड़े जोश से दे रहे थे, लेकिन जब लड़ाई से पहले हज़रत अली (रज़ि०) ने उन्हें नबी (सल्ल०) की एक बात याद दिलाई तो वे लड़ाई का मैदान छोड़कर वापस पलट गए। वापसी के सफ़र में 'सबाअ्' नामी वादी (घाटी) में पहुँचे। वहाँ वे नमाज़ पढ़ रहे थे कि अम्र-बिन-जुरमूज़ नामी एक शख़्स ने उन्हें सजदे की हालत में शहीद कर दिया। हज़रत असमा (रज़ि०) को उनकी शहादत की ख़बर सुनकर बहुत सदमा हुआ। कुछ रिवायतों में है कि उन्होंने इस मौक़े पर ये अशआर कहे—

> "इब्ने-जुरमूज़ ने लड़ाई के दिन एक बुलन्द हिम्मत शहसवार से दग़ा की जबकि वह निहत्था और बे-सरो-सामान था।
>
> ऐ अम्र! अगर तू अपने इरादे से ज़ुबैर को पहले बाख़बर कर देता तो उनको एक निडर और बहादुर शख़्स पाता।

ख़ुदा तुझे ग़ारत करे! तूने एक मुसलमान को नाहक़ क़त्ल किया,

ख़ुदा का अज़ाब तुझपर ज़रूर नाज़िल होगा।"

ये अशआर दुर्रे-मंसूर में हज़रत असमा (रज़ि०) के बताए जाते हैं लेकिन अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) ने लिखा है कि ये अशआर हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) की एक दूसरी बीवी हज़रत आतिका-बिन्ते-ज़ैद-बिन-अम्र-बिन-नुफ़ैल (रज़ि०) ने कहे हैं जो शेर और शायरी में काफ़ी महारत रखती थीं। हज़रत असमा (रज़ि०) के शेर और शायरी में दिलचस्पी रखने का कोई सुबूत नहीं मिलता। लेकिन इस बात पर सीरत-निगारों का इत्तिफ़ाक़ है कि हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) के इन्तिक़ाल पर हज़रत असमा (रज़ि०) ने गहरा ग़म और दुख जताया।

हज़रत असमा (रज़ि०) के बेटे हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) का किरदार इस्लामी तारीख़ में बड़ी अहमियत रखता है। इमाम हुसैन (रज़ि०) की दर्दनाक शहादत के बाद बनू-उमैया की ज़ालिम ताक़त का उन्होंने जिस बहादुरी और साबितक़दमी से मुक़ाबला किया वह अपनी मिसाल आप है। सच तो यह है कि अगर अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) को हज़रत हुसैन (रज़ि०) के साथियों जैसे कुछ साथी मिल जाते तो वे बनू-उमैया की हुकूमत का तख़्ता उलटकर रख देते और ख़िलाफ़ते-राशिदा का नमूना फिर से क़ायम करके दिखा देते। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) की शहादत तारीख़ की एक दर्दनाक घटना है। इस मौक़े पर हज़रत असमा (रज़ि०) ने हक़परस्ती (सत्यनिष्ठता), निडरता, सब्र, अल्लाह पर भरोसे और ईमानी ताक़त का जो सुबूत दिया वह उनकी ज़िन्दगी का एक रौशन पहलू है।

सन् 30 या 31 हिजरी से हज़रत असमा अपने शौहर हज़रत ज़ुबैर (रज़ि०) से अलग होने के बाद अपने बेटे अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) ही के साथ रहती थीं। हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) अपनी माँ की बहुत इज़्ज़त व ख़िदमत करते थे। अपनी शहादत (73 हिजरी) तक वे अपनी बूढ़ी माँ की ख़ुशी का ख़याल रखते और उनकी ख़िदमत करते रहे। हज़रत असमा (रज़ि०) भी अपने नेक़ और फ़रमाँबरदार बेटे के लिए हर वक़्त दुआ करती रहती थीं। यह उन्ही की तरबियत का असर था कि हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) इल्म और फ़ज़्ल, परहेज़गारी और सच्चाई, बहादुरी और निडरता की बेहतरीन मिसाल थे। इमाम हुसैन (रज़ि०) की तरह उन्होंने भी मरते दम तक यज़ीद की बैअत नहीं की (यानी उसे ख़लीफ़ा नहीं माना) और फिर उसकी मौत के बाद भी उसके जाँनशीनों के मुक़ाबले में डटे रहे। सन् 66 हिजरी में इराक़ और हिजाज़ के लोगों ने एक राय होकर उन्हें अपना ख़लीफ़ा चुन लिया। सन् 73 हिजरी तक मक्का में उनकी ख़िलाफ़त क़ायम रही। इन छः सालों में उन्हें एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। एक तरफ़ मुख़्तार-बिन-अबू-उबैद सक़फ़ी का मज़बूत गरोह था, दूसरी तरफ़ बनू-उमैया की ज़ालिम ताक़त। वे बड़ी हिम्मत और हौसले के साथ इन दोनों मोर्चों पर लड़ते रहे। जब अब्दुल-मलिक-बिन-मरवान ख़लीफ़ा बना तो उसने यह फ़ैसला कर लिया कि वह अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) की ख़िलाफ़त को ख़त्म करके ही रहेगा। फिर यह ज़िम्मेदारी उसने अपने एक (तजरिबेकार जनरल) हज्जाज-बिन-यूसुफ़ सक़फ़ी को सौंपी।

हज्जाज-बिन-यूसुफ़ ने एक बड़ी फ़ौज के साथ पहली ज़िलहिज्जा (इस्लामी कैलेंडर में साल का बारहवाँ महीना) सन् 72 हिजरी में मक्का शहर की घेराबन्दी कर ली। हज़रत

अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) मुक़ाबले पर डटे रहे और छः महीने तक बनू-उमैया की फ़ौज को मक्का पर क़ब्ज़ा नहीं करने दिया। हज्जाज ने ऐसी सख़्त घेराबन्दी की कि मक्का में अनाज का एक दाना नहीं पहुँच सकता था। उसने काबा की इज़्ज़त व एहतिराम का भी ख़याल नहीं किया और अबू-क़ुबैस नामी पहाड़ पर तोपें क़ायम करके उनसे काबा पर लगातार पत्थर बरसाए। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) पत्थरों की बारिश में भी बड़ा दिल लगाकर नमाज़ पढ़ते। घेराबन्दी की सख़्ती और खाने-पीने की चीज़ों की कमी से परेशान होकर हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) के बहुत-से साथी उनका साथ छोड़कर हज्जाज-बिन-यूसुफ़ से जा मिले। यहाँ तक कि उनके बेटों ने भी उन्हें अकेला छोड़ दिया और हज्जाज के पास जाकर पनाह ले ली। लेकिन इस बहत्तर साल के बूढ़े शेर ने बनू-उमैया की हुकूमत को क़बूल न करने की क़सम खा रखी थी।

घेराबन्दी के दौरान ही वे एक दिन हज़रत असमा (रज़ि०) की ख़ैरियत पूछने के लिए उनकी ख़िदमत में हाज़िर हुए। वे कुछ बीमार थीं। बातचीत करते हुए हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) के मुँह से निकल गया, "अम्मी जान! मौत में बड़ी राहत है।" बोलीं, "शायद तुमको मेरे मरने की तमन्ना है (ताकि बुढ़ापे के दुखों से छुटकारा पा जाऊँ), लेकिन बेटे मैं तुम्हारा अंजाम देखकर मरना चाहती हूँ ताकि अगर तुम्हें शहादत नसीब हो तो अपने हाथों से तुम्हारा कफ़न-दफ़न करूँ और अगर तुम फ़तह पाओ तो मेरा दिल ठंडा हो।"

इस घटना के दस दिन बाद जब गिनती के कुछ ही साथी रह गए तो वे आख़िरी बार हज़रत असमा (रज़ि०) की ख़िदमत में हाज़िर हुए और कहा—

"अम्मी जान! मेरे साथियों ने बेवफ़ाई की है और अब गिनती के कुछ जाँनिसारों के सिवा कोई मेरा साथ देने को तैयार नहीं। आपकी क्या राय है? अगर हथियार डाल दूँ तो हो सकता है कि मुझे और मेरे साथियों को पनाह मिल जाए।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने जवाब दिया– "ऐ मेरे बेटे! अगर तुम सच्चाई पर हो तो मर्दों की तरह लड़कर शहादत का मर्तबा हासिल कर लो और किसी तरह का अपमान मत सहो। अगर तुमने जो कुछ किया वह सिर्फ़ दुनिया हासिल करने के लिए था तो तुमसे बुरा कोई और शख़्स नहीं, जिसने अपनी आख़िरत भी ख़राब की और दूसरों को भी तबाही में डाला।"

एक और रिवायत में है कि हज़रत असमा (रज़ि०) ने अपने बेटे को नसीहत करते हुए फ़रमाया–

"बेटा, क़त्ल के डर से कभी कोई ऐसी शर्त क़बूल न करना जिसमें तुमको अपमान सहना पड़े। ख़ुदा की क़सम! इज़्ज़त के साथ तलवार खाकर मर जाना इससे बेहतर है कि बेइज़्ज़ती के साथ कोड़े की मार बरदाश्त की जाए।"

अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) ने जवाब दिया, "अम्मी जान! मैं सच्चाई और इनसाफ़ के लिए लड़ा और सच्चाई व इनसाफ़ के लिए ही साथियों को लड़ाया। अब आपसे रुख़्सत होने आया हूँ।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने फ़रमाया, "बेटा, अगर तुम हक़ पर हो तो हालात की ख़राबी और साथियों की बेवफ़ाई की वजह से दब जाना शरीफ़ों और ईमानवालों का तरीक़ा नहीं।"

इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) ने कहा, "अम्मी जान! मैं मौत से नहीं

डरता, बस यह ख़याल है कि मेरी मौत के बाद दुश्मन मेरी लाश को बिगाड़ देंगे और सूली पर लटकाएँगे, जिससे आपको दुख होगा।"

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की बुलन्द मर्तबा बेटी ने फ़रमाया, "बेटे, जब बकरी ज़िब्ह कर डाली जाए तो फिर उसकी खाल खींची जाए या उसके जिस्म के टुकड़े किए जाएँ उसे क्या परवा? तुम अल्लाह पर भरोसा करके अपना काम किए जाओ, अल्लाह की राह में तलवारों से क़ीमा होना गुमराहों की ग़ुलामी से हज़ार गुना बेहतर है। मौत के डर से ग़ुलामी की ज़िल्लत कभी क़बूल न करना।"

अपनी बुलन्द मर्तबा माँ की हौसला बढ़ानेवाली बातें सुनकर इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) का दिल भर आया। मुहब्बत और अक़ीदत से उन्होंने अपनी माँ का माथा चूम लिया, फिर कहा—

> "अम्मी जान! मेरा भी यही इरादा था कि राहे-हक़ में बहादुरी से लड़कर जान दे दूँ लेकिन आपसे मशवरा करना ज़रूरी समझा ताकि मेरे मरने के बाद आप ग़म न करें। अलहम्दुलिल्लाह! मैंने आपको अपने से बढ़कर साबित-क़दम और अल्लाह की रिज़ा पर राज़ी पाया। आपकी बातों ने मेरा ईमान ताज़ा कर दिया है। आज मैं ज़रूर क़त्ल हो जाऊँगा। मुझे यक़ीन है कि मेरे क़त्ल के बाद भी आप सब्र और शुक्र से काम लेंगी। ख़ुदा की क़सम! मैं सच कहता हूँ कि आजतक मैंने जो कुछ किया वह अल्लाह के दीन को बुलन्द करने के लिए किया था। मैंने कभी बुराई को पसन्द नहीं किया। किसी मुसलमान पर ज़ुल्म नहीं किया। कभी वादों को नहीं तोड़ा। कभी अमानत में ख़ियानत नहीं की। अपने उम्माल

(पदाधिकारियों) पर कड़ी नज़र रखी और जहाँ तक मेरी ख़िलाफ़त थी, वहाँ अम्न और इनसाफ़ क़ायम रखने की पूरी कोशिश की। लोगों को अल्लाह और रसूल (सल्ल०) के हुक्म पर चलाया और बुरे कामों से उन्हें रोका। ख़ुदा की क़सम! मैं दीन के आगे दुनिया को कुछ नहीं समझता हूँ। अल्लाह की रिज़ा के सिवा मैं कुछ और नहीं चाहता।"

फिर आसमान की तरफ़ नज़र उठाई और कहा—

"ऐ अल्लाह! मैंने ये बातें गर्व के तौर पर नहीं बल्कि सिर्फ़ अपनी माँ की तसल्ली और इत्मीनान के लिए कही हैं।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने उन्हें दुआ दी और फ़रमाया, "बेटा तुम अल्लाह की राह में जान दो, मैं इन-शाअल्लाह साबिर और शाकिर रहूँगी। अब आगे आओ ताकि आख़िरी बार तुम्हें प्यार कर लूँ।"

अब्दुल्लाह (रज़ि०) आगे बढ़े। बूढ़ी माँ ने अपने कलेजे के टुकड़े को गले से लगाया और उनका मुहँ और माथा चूमा। उस वक़्त हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) ने ज़िरह (कवच) पहन रखी थी। हज़रत असमा (रज़ि०) का हाथ उनकी ज़िरह पर पड़ा तो पूछा, "बेटे, यह तुमने क्या पहन रखा है?" उन्होंने कहा, "ज़िरह (कवच) है ताकि दुश्मन के हमले से बचाव हो!"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने फ़रमाया, "बेटे अल्लाह की राह में शहीद होने के लिए निकलते हो और इन आरज़ी (क्षणिक) चीज़ों का सहारा लेते हो!"

हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) ने उसी वक़्त ज़िरह उतार फेंकी, सिर पर सफ़ेद रूमाल बाँध लिया और माँ से कहा, "अम्मी जान! अब मैंने मामूली लिबास पहन लिया है।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने फ़रमाया, "बेटा, अब मैं ख़ुश हूँ, जाओ अल्लाह के रास्ते में लड़ो और उसके यहाँ इसी लिबास में जाओ।"

हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) ने तलवार खींच ली और "रजज़" (बहादुरी के अशआर) पढ़ते हुए दुश्मनों के बीच घुस गए। बहुत देर तक बहादुरी से लड़ते रहे। फिर ज़ख़्मों से चूर होकर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) का ये साहसी नवासा और हज़रत असमा (रज़ि०) के जिगर का टुकड़ा अपने ख़ुदा से जा मिला।

इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की शहादत की ख़बर सुनकर हज्जाज-बिन-यूसुफ़ को बड़ी ख़ुशी हुई और उसने हुक्म दिया कि इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की लाश को हजून के मक़ाम पर सूली पर उल्टा लटका दिया जाए। हज़रत असमा (रज़ि०) को ख़बर मिली तो उन्होंने हज्जाज को पैग़ाम भेजा, "ख़ुदा तुझे बरबाद करे! तूने मेरे बेटे की लाश को सूली पर क्यों लटकाया?"

हज्जाज ने जवाब में कहला भेजा, "मैं लोगों को इब्ने-ज़ुबैर के अंजाम से सबक़ दिलाना चाहता हूँ।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने उसे फिर पैग़ाम भेजा, "मेरे बच्चे की लाश मेरे हवाले कर दो ताकि मैं उसका कफ़न कर सकूँ।"

ज़ालिम हज्जाज ने साफ़ इनकार कर दिया।

इब्ने-ज़ुबैर की शहादत के एक दो दिन बाद हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि०) हजून के मक़ाम से गुज़रे। उनकी लाश सूली पर लटकते देखकर उन्हें बहुत दुख हुआ। उन्होंने वहाँ रुककर फ़रमाया, "ऐ अबू-ख़ुबैब, अस्सलामु अलै-क, मैंने तुमको इस (राजनीति) में पड़ने से मना किया था, तुम नमाज़ें पढ़ते थे, रोज़े रखते थे और रिश्तेदारों से अच्छा सुलूक करते थे।"

शहादत के तीसरे दिन हज़रत असमा (रज़ि०) एक कनीज़ (दासी) के सहारे हजून तक तशरीफ़ ले गईं। इत्तिफ़ाक़ से उस वक़्त हज्जाज भी वहाँ गश्त कर रहा था। हज़रत असमा (रज़ि०) को लोगों ने हज्जाज के मौजूद होने की ख़बर दी तो उन्होंने फ़रमाया, "क्या उस सवार के उतरने का वक़्त अभी नहीं आया?" हज्जाज ने कहा, "वह मुलहिद (नास्तिक) था, उसकी यही सज़ा थी।" हज़रत असमा (रज़ि०) तड़प उठीं, फ़रमाया, "ख़ुदा की क़सम! वह मुलहिद (नास्तिक) नहीं था, बल्कि नमाज़ पढ़नेवाला, रोज़े रखनेवाला और परहेज़गार था।"

हज्जाज ने झल्लाकर कहा, "बुढ़िया, यहाँ से चली जाओ, तुम्हारी अक़्ल सठिया गई है।" हज़रत असमा (रज़ि०) ने बड़ी निडरता से जवाब दिया, "मेरी अक़्ल नहीं सठिया गई है, ख़ुदा की क़सम! मैंने नबी (सल्ल०) को फ़रमाते सुना है कि बनू-सक़ीफ़ में एक झूठा और एक ज़ालिम पैदा होगा। झुठे (यानी मुख़्तार-बिन-अबू-उबैद सक़फ़ी) को तो हमने देख लिया और ज़ालिम तू है।"

एक और रिवायत में है कि जब हज्जाज ने सुना कि इब्ने-उमर (रज़ि०) ने इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की लाश के नीचे खड़े होकर उनकी तारीफ़ की है तो उसने लाश को उतारकर यहूदियों के क़ब्रिस्तान में फिंकवा दिया और हज़रत असमा (रज़ि०) को बुला भेजा। उन्होंने उसके पास जाने से इनकार कर दिया। हज्जाज ने कहला भेजा, "मेरा हुक्म मान लो वरना चोटी पकड़कर घसिटवाऊँगा।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने जवाब में कहला भेजा, "ख़ुदा की क़सम! उस वक़्त तक नहीं आऊँगी जब तक तू चोटी पकड़कर न घसिटवाएगा।"

हज्जाज अब मजबूर होकर खुद हज़रत असमा (रज़ि०) के पास पहुँचा और दिल दुखा देनेवाले अन्दाज़ में कहने लगा, "ऐ ज़ातुन-निताक़ैन! सच कहना खुदा के दुश्मन का अंजाम कैसा हुआ?"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने फ़रमाया, "हाँ, तूने मेरे बेटे की दुनिया ख़राब की लेकिन उसने तेरी आख़िरत बरबाद कर दी है। मैंने सुना है कि तू मेरे बेटे का इब्ने-ज़ातुन-निताक़ैन कहकर मज़ाक़ उड़ाता था, तो खुदा की क़सम! मैं ज़ातुन-निताक़ैन हूँ। मैंने ही नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) का नाशतेदान अपने निताक़ से बाँधा था। लेकिन मैंने खुद नबी (सल्ल०) से सुना है कि बनू-सक़ीफ़ में एक झूठा और एक ज़ालिम होगा। झुठे को हमने देख लिया, ज़ालिम का देखना बाक़ी था, सो वह तू है।"

हज़रत असमा (रज़ि०) की यह खरी-खरी बातें सुनकर हज्जाज सकते में आ गया और कान दबाकर वहाँ से चल दिया।

हज़रत असमा (रज़ि०) जब हज्जाज की तरफ़ से नाउम्मीद हो गईं और उन्हें यक़ीन हो गया कि वह उनके बेटे की लाश उनके हवाले नहीं करेगा तो उन्होंने किसी तरह अब्दुल-मलिक को दमिश्क़ पैग़ाम भिजवाया।

एक रिवायत में है कि इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) के भाई उरवा-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) मक्का की घेराबन्दी के दिनों में आख़िर वक़्त तक उनके साथ थे। जब अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) शहीद हो गए और हज्जाज ने उनकी लाश सूली पर लटकवा दी तो वे छुप-छुपाकर अब्दुल-मलिक के पास दमिश्क़ पहुँचे। वह उरवा (रज़ि०) से बड़ी मुहब्बत और इज़्ज़त से मिला और तख़्त पर अपने पास बैठाया। उरवा (रज़ि०) ने उसे मक्का के सारे हालात बताए

और उससे दरख़ास्त की कि वह हज्जाज को इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की लाश हज़रत असमा (रज़ि०) के हवाले करने का हुक्म भेजे। अब्दुल-मलिक ने उसी वक़्त हज्जाज को ग़ुस्से से भरा ख़त लिखा जिसमें उसकी हरकत पर सख़्त नापसंदीदगी ज़ाहिर करते हुए इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की लाश तुरन्त हज़रत असमा (रज़ि०) के हवाले करने का हुक्म दिया। अब्दुल-मलिक का ख़त मिलते ही हज्जाज ने इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की लाश हज़रत असमा (रज़ि०) के हवाले कर दी।

इब्ने-अबू-मुलैका (रह०) का बयान है कि मैं सबसे पहला शख़्स था जिसने हज़रत असमा (रज़ि०) को इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि०) की लाश उनके हवाले किए जाने की ख़बर दी। उन्होंने हुक्म दिया कि उसे ग़ुस्ल दो। लाश का जोड़-जोड़ अलग हो चुका था। हम एक-एक हिस्से को ग़ुस्ल देकर कफ़न में लपेटते जाते थे। जब जिस्म के सारे हिस्सों का ग़ुस्ल हो चुका तो हज़रत असमा (रज़ि०) ने अपने जिगर के टुकड़े के लिए मग़फ़िरत की दुआ की। फिर हमने जनाज़े की नमाज़ पढ़कर लाश को हजून के इलाक़े में दफ़न कर दिया।

इससे पहले हज़रत असमा (रज़ि०) फ़रमाया करती थीं कि अल्लाह, मुझे उस वक़्त तक ज़िन्दा रखना जब तक मैं अपने बेटे का जिस्म दफ़ना-कफ़नाकर मुत्मइन न हो जाऊँ! इस वाक़िए के सात दिन (या कुछ रिवायतों के मुताबिक़ बीस दिन या सौ दिन) के बाद हज़रत असमा (रज़ि०) भी अपने रब से जा मिलीं। मौत के वक़्त उनकी उम्र लगभग सौ साल थी लेकिन सारे दाँत सलामत थे और होश व हवास बिलकुल ठीक थे। क़द लम्बा और जिस्म मोटा था।

कुछ रिवायतों में है कि आख़िरी उम्र में उनकी आँखों की

रौशनी चली गई थी इसलिए हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) की शहादत अपनी आँखों से ख़ुद नहीं देख पाईं बल्कि टटोल-टटोलकर या पूछ-पूछकर हर कैफ़ियत से आगाह होती थीं।

हज़रत असमा को अल्लाह ने पाँच बेटे और तीन बेटियाँ दी थीं। इनके नाम हैंः अब्दुल्लाह (रज़ि०), उरवा (रज़ि०), मुंज़िर (रह०), मुहाजिर (रह०), आसिम (रह०), ख़दीजतुल-कुबरा (रज़ि०), उम्मुल-हसन (रज़ि०) और आइशा (रह०)।

इनमें से हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) और हज़रत उरवा (रज़ि०) इस्लामी तारीख़ में बहुत मशहूर हुए।

हज़रत असमा (रज़ि०) का दर्जा इल्म और फ़ज़्ल में भी काफ़ी ऊँचा था। उनसे 56 हदीसें रिवायत की गई हैं। उनसे रिवायत करनेवालों में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०), उरवा-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०), अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि०) के बेटे अबू-बक्र अब्बाद और आमिर, अब्दुल्लाह-बिन-उरवा (रह०), अब्दुल्लाह-बिन-कैसान (रह०), फ़ातिमा-बिन्ते-मुंज़िर-बिन-ज़ुबैर (रह०), मुहम्मद-बिन-मुनकदिर (रह०), इब्ने-अबू-मुलैका (रह०), वह्ब-बिन-कैसान (रह०), मुत्तलिब-बिन-हन्तब (रह०), अबू-नौफ़ल-बिन-अबू-अक़रब (रह०), मुस्लिम मअरी (रह०), सफ़ीया-बिन्ते-शैबा और उबादा-बिन-हमज़ा-बिन-अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर शामिल हैं।

हज़रत असमा (रज़ि०) ने अपनी लम्बी उम्र में ज़माने के बहुत-से उतार-चढ़ाओ देखे। वे इस्लामी तारीख़ की उन गिनी-चुनी हस्तियों में से हैं जिन्होंने जाहिलियत का ज़माना भी देखा, नबी (सल्ल०) की रिसालत का पूरा दौर उनकी आँखों के सामने गुज़रा और ख़ुलफ़ाए-राशिदीन अबू-बक्र (रज़ि०) उमर (रज़ि०), उसमान (रज़ि०), अली (रज़ि०) का ज़माना भी देखा। उन्होंने अपने बुलन्द

मर्तबा बेटे की तरक़्क़ी का दौर भी देखा और उनकी शहादत का दर्दनाक मंज़र भी देखा। उनपर कई बार मुसीबतों के पहाड़ टूटे लेकिन उन्होंने हर मौक़े पर बड़ी हिम्मत, हौसले, साबित-क़दमी और मज़बूत ईमान का सुबूत दिया। बेशक वे इस्लामी तारीख़ की एक शानदार शख़्सियत हैं, उनका रौशन और निखरा किरदार मुसलमानों के लिए क़ियामत तक रहनुमा बना रहेगा।

हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०)

हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की नुबूवत के शुरू के ज़माने की बात है कि एक दिन नबी (सल्ल०) हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) और कुछ दूसरे जाँनिसारों के साथ काबा तशरीफ़ ले गए। उस वक़्त वहाँ क़ुरैश खानदान के बहुत-से बुतपरस्त जमा थे। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) की इजाज़त से उन लोगों के सामने एक दर्दभरी तक़रीर की जिसमें उन्हें दावत दी कि वे कुफ़्र और शिर्क को ठुकराकर इस्लाम क़बूल कर लें। मुशरिक इस्लाम की दावत क़बूल क्या करते! उनपर उसका उलटा असर यह हुआ कि अभी तक़रीर ख़त्म भी नहीं हुई थी कि अल्लाह के ये दुश्मन भड़क उठे और चारों तरफ़ से मुसलमानों पर टूट पड़े और उनको बड़ी बेदर्दी से पीटना शुरू कर दिया। उनका ख़ास निशाना हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) थे। उत्बा-बिन-रबीआ जो क़ुरैश के सरदारों में बड़ा संजीदा और समझदार समझा जाता था, ग़ुस्से से ऐसा भड़का कि अपने सख़्त तलेवाले जूते से हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के चेहरे पर लगातार कई चोटें मारीं और फिर उनके पेट पर चढ़कर कूदता रहा। इस मार-पीट से हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) सख़्त ज़ख़्मी हो गए। ज़ख़्मों की वजह से उनका चेहरा पहचाना भी नहीं जाता था।

इस मौक़े पर नबी (सल्ल०) भी मौजूद थे लेकिन मुशरिकों ने आप (सल्ल०) को पीछे धकेल देने के सिवा और कुछ न कहा। इसकी वजह कुछ तो बनू-हाशिम के सरदार अबू-तालिब का रोब था और कुछ हज़रत ख़दीजा (रज़ि०) के शौहर होने का ख़याल। जब हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के क़बीला बनू-तैम के लोगों को ख़बर मिली कि कुछ लोग अबू-बक्र (रज़ि०) को मार डालने पर तुले हैं तो वे भागते हुए काबा पहुँचे और उन्हें ज़ालिमों के चँगुल से छुड़ाया। उस वक़्त हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) बेहोश थे और इतनी बुरी तरह ज़ख़्मी थे कि उनका बचना मुश्किल नज़र आ रहा था। बनू-तैम उनकी हालत देखकर ग़ुस्से में भड़क उठे और ललकारकर कहा कि अगर अबू-बक्र की जान चली गई तो ख़ुदा की क़सम हम इसका बदला लेंगे और उत्बा-बिन-रबीआ को भी ज़िन्दा नहीं छोड़ेंगे। इसके बाद हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को एक कपड़े में लपेटकर उनके घर ले गए। घर पहुँचकर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के बाप अबू-क़ुहाफ़ा और बनू-तैम के लोगों ने उनको लगातार पुकारना शुरू किया लेकिन वे कोई जवाब न दे सकते थे। अस्र के बाद उन्हें होश आया और वे बात करने के क़ाबिल हुए तो सबसे पहले जो लफ़्ज़ उनकी ज़बान से निकले वे ये थे, “नबी (सल्ल०) का क्या हाल है?”

यह सुनकर बनू-तैम के लोग, जो अभी ईमान नहीं लाए थे, नाराज़ होकर ताने देने लगे कि तुम इस हालत में भी मुहम्मद का ख़याल नहीं छोड़ते। फिर वे हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की माँ उम्मे-ख़ैर से यह कहकर चल दिए कि तुम ख़ुद ही इनकी देखभाल और ख़िदमत करो, अगर ये कुछ खाना-पीना चाहें तो खिला-पिला देना। जब वे लोग चले गए तो उम्मे-ख़ैर ने अबू-बक्र (रज़ि०) से बार-बार कहा कि वे कुछ खा-पी लें। लेकिन उन्होंने न कुछ खाया न पिया, बस बार-बार यही पूछते रहे कि नबी (सल्ल०) किस हाल

में हैं। उम्मे-ख़ैर (रज़ि०), जिन्होंने उस वक़्त तक इस्लाम क़बूल नहीं किया था, हर बार यही जवाब देतीं, "ख़ुदा की क़सम! मुझे तुम्हारे साथी की कुछ ख़बर नहीं।" आख़िरकार हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उनसे फ़रमाया, "आप उम्मे-जमील के पास जाइए और उनसे नबी (सल्ल०) का हाल मालूम कीजिए।" उम्मे-ख़ैर उसी वक़्त उम्मे-जमील के पास गईं और कहा, "अबू-बक्र बहुत ज़ख़्मी है और कमज़ोरी से उसका बुरा हाल है, उसने तुमसे मुहम्मद-बिन-अब्दुल्लाह का हाल पूछा है।" उम्मे-जमील ने उन्हें कुछ न बताया और कहा, "अगर तुम पसन्द करो तो मैं तुम्हारे साथ अबू-बक्र के पास चलूँ।" उम्मे-ख़ैर ने कहा, "हाँ चलो।" उम्मे-जमील हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के घर पहुँची तो उनकी हालत देखकर तड़प उठीं और बेइख़्तियार बोल पड़ीं, "ख़ुदा की क़सम! जिन लोगों ने आपके साथ यह सुलूक किया है वे बेशक अल्लाह के नाफ़रमान और गुनाहगार हैं, मुझे उम्मीद है कि अल्लाह ज़रूर उनसे आपका बदला लेगा।" फिर उन्होंने भी हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से कुछ खाने-पीने को कहा लेकिन हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने खाना-पीने के बजाय यह कहा कि "पहले नबी (सल्ल०) का हाल बताओ।"

उम्मे-जमील (रज़ि०) ने कहा, "आपकी माँ सुन लेंगी।"

अबू-बक्र (रज़ि०) ने फ़रमाया, "तुम उनसे कोई ख़तरा महसूस न करो।"

उम्मे-जमील (रज़ि०) ने कहा, "अल्लाह के फ़ज़्ल से नबी (सल्ल०) बिलकुल अच्छे हैं, आप कुछ फ़िक्र न करें।"

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने पूछा, "इस वक़्त आप (सल्ल०) कहाँ हैं?"

उम्मे-जमील (रज़ि०) ने जवाब दिया, "दारे-अरक़म (अरक़म के घर) में।"

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने कहा, "ख़ुदा की क़सम! जब तक मैं नबी (सल्ल०) को देख न लूँगा, न कुछ खाऊँगा और न कुछ पिऊँगा।"

उस वक़्त लोग हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) का हाल-चाल पूछने के लिए आ-जा रहे थे। जब उनका आना-जाना ख़त्म हुआ तो उम्मे-जमील और उम्मे-ख़ैर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को सहारा देती हुईं लेकर निकलीं और दारे-अरक़म में नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में ले गईं।

नबी (सल्ल०) ने हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को देखा तो आप (सल्ल०) की आँखों में आसूँ आ गए और आप (सल्ल०) ने झुककर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) का माथा चूम लिया। यह देखकर दूसरे मुसलमानों को भी रोना आ गया। दोनों औरतें जो हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को सहारा देकर नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में ले गई थीं उनमें एक हज़रत उम्मे-जमील (रज़ि०) तो पहले ही मुसलमान हो चुकी थीं, लेकिन उम्मे-ख़ैर अभी तक ईमान नहीं लाई थीं। उसी वक़्त हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) से दरख़ास्त की "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरी मेहरबान माँ के लिए हिदायत की दुआ कीजिए।"

नबी (सल्ल०) ने उसी वक़्त उनके लिए दुआ की और वे ईमान की दौलत से माला-माल हो गईं।

ये ख़ातून जिनकी कुन्नियत उम्मे-जमील थी और जिन्होंने नुबूवत के शुरू के ज़माने में इस्लाम क़बूल किया, जिनपर नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) को पूरा भरोसा था, हज़रत

उमर (रज़ि०) की बहन फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब थीं।

हज़रत उम्मे-जमील फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०) की गिनती बुलन्द मर्तबा सहाबियात में होती है। लेकिन ताज्जुब है कि सीरत की किताबों में इनकी ज़िन्दगी के हालात बहुत कम मिलते हैं। हसब-नसब के बारे में इतना ही कहना काफ़ी है कि वे क़ुरैश के बनू-अदी ख़ानदान से थीं और हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि०) की बहन थीं। नसब का सिलसिला यह है:

फ़ातिमा-बिन्ते-खत्ताब-बिन-नुफ़ैल-बिन-अब्दुल-उज़्ज़ा-बिन-रबाह-बिन-अब्दुल्लाह-बिन-क़ुर्त-बिन-रज़ाह-बिन-अदी-बिन-काब-बिन-लुऐ-बिन-फ़िह्र-बिन-मालिक

काब-बिन-लुऐ पर हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के नसब का सिलसिला नबी (सल्ल०) के नसब से मिल जाता है।

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) की शादी हज़रत सईद-बिन-ज़ैद-बिन-अम्र-बिन-नुफ़ैल से हुई, जो 'असहाबे-अशरा-ए-मुबश्शरा' (यानी वे दस ख़ुशनसीब सहाबी जिन्हें नबी (सल्ल०) ने उनकी ज़िन्दगी में ही जन्नत की ख़ुशख़बरी सुनांई) में से एक थे। दोनों मियाँ-बीवी को अल्लाह ने नेक फ़ितरत से नवाज़ा था। नुबूवत के बाद आप (सल्ल०) ने जैसे ही लोगों को इस्लाम की दावत देनी शुरू की, हज़रत सईद (रज़ि०) और हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) बेझिझक आगे बढ़े और इस्लाम की रहमत के साए में आ गए। इससे पहले गिनती के कुछ ही नेक फ़ितरत लोग ईमान लाए थे। कुछ रिवायतों में है कि हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०) से पहले सिर्फ़ छब्बीस आदमी ईमान लाए थे। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) सत्ताइसवीं मुसलमान थीं और हज़रत सईद (रज़ि०) का नम्बर अट्ठाइसवाँ था। इस तरह दोनों मियाँ-बीवी को साबिक़ूनल-अव्वलून' (यानी

बिलकुल शुरू में ईमान लानेवाले लोग) में ख़ास हैसियत हासिल है।

जिस ज़माने में हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने इस्लाम क़बूल किया, उनके भाई हज़रत उमर-बिन-ख़त्ताब (रज़ि०) इस्लाम की दुश्मनी में आगे-आगे थे। यह हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) का अटल और ख़ालिस ईमान ही था जिसने एक दिन उनको उमर-बिन-ख़त्ताब से फ़ारूक़े-आज़म बना दिया। यह हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) की ज़िन्दगी का सबसे रौशन पहलू है और बहुत-से सीरत-निगारों ने इसे तफ़सील से बयान किया है। लेकिन कुछ ऐसी रिवायतें भी मौजूद हैं जिनमें हज़रत उमर (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने की घटना को दूसरे अन्दाज़ में पेश किया गया है और इसमें हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) की चर्चा मौजूद नहीं है। लेकिन मशहूर रिवायत वही है जिसे इब्ने-इसहाक़ (रह०), अबू-याला (रह०), बज़्ज़ार (रह०), बैहक़ी (रह०), दारे-क़ुतनी (रह०) और कई दूसरे सीरत-निगारों ने बयान किया है। हालाँकि बयान में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ है लेकिन घटना क़रीब-क़रीब एक जैसी है।

इस घटना का निचोड़ यह है कि सन् 6 नबवी में एक दिन हज़रत उमर (रज़ि०) सवेरे-सवेरे हाथ में तलवार लिए घर से यह इरादा करके निकले कि आज नबी (सल्ल०) का काम तमाम करके रहेंगे। उन्हें इस इरादे पर किस चीज़ ने उभारा था? कुछ सीरत-निगारों ने बयान किया है कि पाँच सालों तक इस्लाम के जाँनिसारों पर हर तरह के ज़ुल्म-सितम तोड़ने के बावजूद जब उनमें से किसी एक को भी इस्लाम की राह से न हटा सके तो उन्होंने उस चिराग़ को ही बुझा डालने का फ़ैसला किया जिसकी किरणें लोगों के दिलों को रौशन कर रही थीं।

कुछ सीरत-निगारों का ख़याल है कि इस्लाम को हर दिन

तरक़्क़ी करता देखकर हज़रत उमर (रज़ि०) सख़्त ज़हनी कश्मकश में उलझ गए थे। जब उन्होंने अपने कुछ रिश्तेदारों को इस्लाम की ख़ातिर अपना घर-बार छोड़कर हबशा की तरफ़ हिजरत करते देखा तो उनकी ज़हनी कश्मकश में और इज़ाफ़ा हो गया और उन्होंने नबी (सल्ल०) को शहीद करने का फ़ैसला कर लिया।

एक रिवायत यह भी है कि जब नबी (सल्ल०) के बहादुर चचा हज़रत हमज़ा-बिन-मुत्तलिब (रज़ि०) ने इस्लाम क़बूल कर लिया[1] तो

---

[1] हज़रत हमज़ा (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने की घटना भी बड़ी दिलचस्प है। अल्लामा इब्ने-साद (रह०) का बयान है कि सन् 6 नबवी में एक दिन नबी (सल्ल०) सफ़ा नामी पहाड़ के क़रीब या काबा में लोगों को एक अल्लाह पर ईमान लाने की दावत दे रहे थे कि अबू-जहल वहाँ आ गया। उसने आते ही नबी (सल्ल०) को गालियाँ देनी शुरू कर दीं। नबी (सल्ल०) ख़ामोशी से सुनते रहे। फिर उसने नबी (सल्ल०) के चेहरे पर थप्पड़ मारा। एक रिवायत के मुताबिक़ उसने नबी (सल्ल०) पर गोबर फेंका और पत्थर भी मारे। नबी (सल्ल०) ख़ामोशी से घर चले आए। उस ज़माने में हज़रत हमज़ा (रज़ि०) अपने पूर्वजों के दीन पर क़ायम थे और इस्लाम की दावत पर ध्यान न देकर अपना ज़्यादा वक़्त सैर और शिकार में गुज़ारते थे। एक दिन अपने नियम के मुताबिक़ शिकार से लौट रहे थे कि बनू-तैम के रईस अब्दुल्लाह-बिन-जदआन की एक कनीज़ ने, जिसे उसने आज़ाद कर दिया था, उनका रास्ता रोक लिया और चिल्लाकर बोली, "अबू-उमारा (हज़रत हमज़ा (रज़ि०) की कुन्नियत)! काश तुम थोड़ी देर पहले यहाँ होते तो अपने यतीम भतीजे मुहम्मद का हाल देखते कि बनू-मख़ज़ूम के दुष्ट अम्र-बिन-हिशाम (अबू-जहल) ने उनके साथ क्या सुलूक किया है।" फिर उसने उन्हें पूरी घटना सुनाई तो हज़रत हमज़ा (रज़ि०) की ग़ैरत (स्वाभिमान) को जोश आ गया। गुस्से में भड़ककर काबा पहुँचे जहाँ अबू-जहल मुशरिकों के बीच बैठा बातें बना रहा था। हज़रत हमज़ा (रज़ि०) ने अपनी कमान उसके सिर पर इतनी ज़ोर से मारी कि उसका सिर लहू-लुहान हो गया। फिर ललकारकर कहा, "तू मुहम्मद को गालियाँ देता है, हालांकि जो वह कहता है मैं भी वही कहता हूँ, हिम्मत है तो मुझे गालियाँ देकर देख।" इसपर बनू-मख़ज़ूम के कुछ लोग दौड़कर अबू-जहल की मदद को पहुँच गए लेकिन अबू-जहल ने यह कहकर उन्हें पीछे

क़ुरैश के मुशरिकों के नफ़्स को सख़्त चोट लगी। उन्होंने ग़ुस्से में भड़ककर एक सम्मेलन किया जिसमें अबू-जह्ल ने एलान किया कि जो शख़्स मुहम्मद को क़त्ल करेगा मैं उसे सौ सुर्ख़ ऊँट (जो बहुत क़ीमती होते थे) और चालीस हज़ार दिरहम नक़द इनाम में दूँगा। हज़रत उमर (रज़ि०) भी उस सम्मेलन में मौजूद थे। उन्हें इनाम का लालच तो नहीं था लेकिन अपनी ताक़त और बहादुरी पर बड़ा नाज़ था। अबू-जह्ल की भड़कानेवाली तक़रीर सुनकर जोश में आ गए और बुलन्द आवाज़ में बोले, "ऐ अबू-हकम, लात और उज़्ज़ा की क़सम! जब तक मैं मुहम्मद को क़त्ल न कर लूँगा, ज़मीन पर नहीं बैठूँगा।"

तिरमिज़ी में है कि जब हज़रत हमज़ा (रज़ि०) ने इस्लाम क़बूल कर लिया तो नबी (सल्ल०) के दिल में यह तमन्ना बड़ी शिद्दत से जागी कि क़ुरैश के दो सुतूनों अम्र-बिन-हिशाम (अबू-जह्ल) और उमर-बिन-ख़त्ताब में अल्लाह किसी एक को इस्लाम की दौलत से माला-माल कर दे। इसलिए आप (सल्ल०) ने यह दुआ माँगी, "ऐ अल्लाह! इस्लाम को इब्ने-हिशाम या उमर-बिन-ख़त्ताब से इज़्ज़त दे।"

हटा दिया कि, "अबू-उमारा को छोड़ दो। मैंने सचमुच आज उसके भतीजे को बहुत बुरी गालियाँ दी थीं।" इसके बाद हज़रत हमज़ा (रज़ि०) नबी (सल्ल०) के पास गए और कहा, "भतीजे, मैंने तुम्हारा बदला अम्र-बिन-हिशाम से ले लिया।" नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "चचा, मुझे तो उस वक़्त ख़ुशी होगी जब आप इस्लाम क़बूल कर लेंगे।" हज़रत हमज़ा (रज़ि०) यह सुनकर ख़ामोशी से घर आ गए और सारी रात इसी उधेड़-बुन में गुज़ारी कि मुझे क्या करना चाहिए? फिर सुबह सवेरे नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में गए और अपनी हालत बयान की। नबी (सल्ल०) ने उनको बड़े सुलझे हुए अन्दाज़ में इस्लाम की दावत दी। अल्लाह ने उनके दिल की सारी शंका दूर कर दी और वे उसी वक़्त ईमान ले आए।

यह दुआ अल्लाह ने बहुत जल्दी क़बूल फ़रमाली और हज़रत उमर-बिन-ख़त्ताब (रज़ि०) को इस्लाम की ताक़त बढ़ाने के लिए चुन लिया।

इस घटना (यानी नबी सल्ल० की दुआ माँगने) के दूसरे दिन हज़रत उमर (रज़ि०) नबी (सल्ल०) को शहीद करने का इरादा करके घर से निकले। इत्तिफ़ाक़ से रास्ते में उनके क़बीले बनू-अदी के एक शख़्स हज़रत नुऐम-बिन-अब्दुल्लाह नह्हाम (रज़ि०) मिल गए। वे ईमान ला चुके थे लेकिन उन्होंने इसका एलान नहीं किया था।

उन्होंने पूछा : "उमर, यह आज तलवार खींचकर किधर चले?"

उमर (रज़ि०) : "आज अपने दीन से बाग़ी हो जानेवाले उस शख़्स को क़त्ल करने जा रहा हूँ जिसने क़ुरैश की एकता को टुकड़े-टुकड़े कर डाला है, हम सब को मूर्ख बताया है, हमारे माबूदों (देवताओं) को बुरा-भला कहा है और हमारे दीन में कीड़े डाले हैं।"

हज़रत नुऐम (रज़ि०) : "उमर, यह तो बड़ा ख़तरेवाला काम है! ख़ुदा की क़सम, तुम बड़ी ग़लतफ़हमी में पड़े हो, अगर तुमने मुहम्मद को क़त्ल कर दिया तो क्या बनू-अब्दे-मनाफ़ तुम्हें ज़मीन पर चलने-फिरने के लिए ज़िन्दा छोड़ देंगे?"

उमर (रज़ि०) : "मुझे किसी का डर नहीं है! ऐसा लगता है तुमने भी अपने बुज़ुर्गों का दीन छोड़कर मुहम्मद का दीन इख़्तियार कर लिया है। क्यों न पहले तुम्हें ही इसका मज़ा चखा दूँ?"

हज़रत नुऐम (रज़ि०) : "तुम मुझे तो बाद में मज़ा चखाना, पहले अपने घरवालों की तो ख़बर लो!"

उमर (रज़ि०) : "मेरे कौन-से घरवाले?"

हज़रत नुऐम (रज़ि०) : “तुम्हारी बहन फ़ातिमा और बहनोई सईद-बिन-ज़ैद दोनों मुसलमान हो चुके हैं और मुझसे ज़्यादा तुम्हारा उनपर हक़ है।”

उमर (रज़ि०) यह सुनकर ग़ुस्से से भड़क उठे और पलटकर हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के घर पहुँचे। उस वक़्त वहाँ हज़रत ख़ब्बाब-बिन-अरत (रज़ि०) भी मौजूद थे। उनके पास कुछ पन्ने थे जिसपर सूरा ताहा लिखी हुई थी। वे दरवाज़ा अन्दर से बन्द करके हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) और उनके शौहर हज़रत सईद (रज़ि०) को उसकी तालीम दे रहे थे। हज़रत उमर (रज़ि०) ने उनकी आवाज़ सुन ली और ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) समझ गईं कि ये उमर (रज़ि०) हैं। उन्होंने हज़रत ख़ब्बाब (रज़ि०) को घर के पिछले हिस्से में छिपा दिया और क़ुरआन के पन्नों को जल्दी से कहीं छिपाकर दरवाज़ा खोल दिया।

हज़रत उमर (रज़ि०) ने घर के अन्दर आते ही पूछा, “यह कैसी आवाज़ थी जो अभी मैंने सुनी है?”

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) और हज़रत सईद (रज़ि०) ने कहा, “तुमने कुछ नहीं सुना।”

हज़रत उमर (रज़ि०) ग़ुस्से से बेहाल होकर बोले, “नहीं, मैंने सुना है! ख़ुदा की क़सम, मैं सुन चुका हूँ कि तुम दोनों ने मुहम्मद का दीन इख़्तियार कर लिया है।”

यह कहकर वे अपने बहनोई, हज़रत सईद-बिन-ज़ैद (रज़ि०) से लिपट गए, उनके लम्बे बाल पकड़कर उन्हें ज़मीन पर पटक दिया और फिर बेतहाशा पीटने लगे। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) शौहर को बचाने के लिए आगे बढ़ीं तो उन्हें भी मारा। फिर हज़रत सईद (रज़ि०) पर एक लकड़ी से वार किया ही था कि हज़रत फ़ातिमा

(रज़ि०) आगे आ गई, वार उनके सिर पर पड़ा और उससे ख़ून के फ़व्वारे छूटने लगे। लेकिन इसी हालत में अपने शौहर के साथ-साथ बोल पड़ीं—

"हाँ, हमने इस्लाम क़बूल कर लिया है! अल्लाह और अल्लाह के रसूल पर ईमान ले आए हैं, तुम जो कर सकते हो कर लो, हम इस सच्चे दीन को कभी नहीं छोड़ सकते।"

एक रिवायत में यह भी है कि हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने कहा, "भाई, अपनी बहन को क्यों बेवा करते हो? बेशक पहले मुझे मार डालो लेकिन अब अल्लाह का दीन दिल से नहीं निकल सकता! नहीं निकल सकता!! नहीं निकल सकता!!! अब हमारा ख़ातिमा मुहम्मद (सल्ल०) के दीन पर ही होगा।"

ख़ून में नहाई हुई बहन के मुँह से ऐसी बातें सुनकर उमर (रज़ि०) दंग रह गए और उनका ग़ुस्सा शर्मिन्दगी में बदल गया। अरब के इस होनहार बेटे को जिसे आगे चलकर फ़ारूक़े-आज़म बनना था, फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०) ने अपना ख़ून बहाकर किसी और ही रास्ते पर डाल दिया। वे थोड़ी देर तक ख़ामोशी से बैठे रहे फिर बोले, "अच्छा तो जो कुछ तुम पढ़ रहे थे मुझे भी दिखाओ।" हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने कहा, "हमें डर है कि तुम उसे बरबाद कर दोगे।" उमर (रज़ि०) ने अपने माबूदों (देवी-देवताओं) की क़सम खाकर कहा कि तुम परेशान न हो, मैं उसे पढ़कर वापस कर दूँगा।

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने दिल में सोचा कि शायद भाई के दिल पर अल्लाह के कलाम का असर हो जाए, उन्होंने कहा—

"हम ख़ुदा का कलाम पढ़ रहे थे, ये पन्ने जिनमें अल्लाह

का कलाम लिखा है इसे सिर्फ़ पाक-साफ़ आदमी ही हाथ लगा सकते हैं, इसलिए जब तक आप नहा-धोकर जिस्म पाक-साफ़ न कर लें, इन पन्नों को हाथ नहीं लगा सकते।"

हज़रत उमर (रज़ि०) ने ग़ुस्ल किया, तब हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने पन्ने उनके हाथ में दे दिए जिसमें सूरा ताहा लिखी हुई थी। अभी उन्होंने सूरा ताहा पढ़ना शुरू ही किया था कि उनका जिस्म काँपने लगा और दिल से कुफ़्र और शिर्क का अँधेरा दूर होने लगा। ज्यों-ज्यों तिलावत करते जाते थे क़ुरआन के अल्फ़ाज़ की शान, अनोखा बयान और सुलझी-सँवरी ज़बान उनके दिल में उतरती चली जाती थी। जब इस आयत पर पहुँचे—

"वह अल्लाह ही है, उसके सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं, उसके लिए बेहतरीन नाम हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-8)

तो उनकी आँखों से आँसू बह निकले और वे बेइख़्तियार पुकार उठे—

"यह कितना प्यारा कलाम है!"

ज्यों ही हज़रत उमर (रज़ि०) के मुँह से यह बात निकली, हज़रत ख़ब्बाब (रज़ि०) मकान के पिछले हिस्से से निकलकर बाहर आ गए और बेहद ख़ुश होकर हज़रत उमर (रज़ि०) से कहने लगे, "ऐ उमर, मुबारक हो! नबी (सल्ल०) की दुआ तेरे हक़ में क़बूल हो गई। नबी (सल्ल०) ने कल ही दुआ माँगी थी कि ऐ अल्लाह, अम्र-बिन-हिशाम और उमर-बिन-ख़त्ताब में जिसे तू चाहता है इस्लाम में दाख़िल कर।

कुछ रिवायतों में है कि हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के ज़ख़्मी होने के बाद हज़रत उमर (रज़ि०) ने उनसे कहा कि "जो कुछ तुम पढ़ रहे थे मुझको भी पढ़कर सुनाओ।"

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने अपने जिस्म से ख़ून साफ़ किया, वुज़ू करके अल्लाह के कलाम के पन्ने निकाले और फिर बड़े जोश से सूरा ताहा की तिलावत शुरू कर दी—

"ताहा, हमने यह क़ुरआन तुमपर इसलिए नाज़िल नहीं किया है कि तुम मुसीबत में पड़ जाओ। यह तो एक नसीहत है हर उस शख़्स के लिए जो (अपने रब से) डरता है। यह उतारा गया है उस ज़ात की तरफ़ से जिसने पैदा किया ज़मीन को और बुलन्द आसमानों को। वह रहमान कायनात के तख़्ते-सल्तनत पर जलवा फ़रमा है।"

(क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-1-5)

ज्यों-ज्यों पढ़ती जाती थीं हज़रत उमर (रज़ि०) का पत्थर दिल पिघलता जाता था। जब उन्होंने पढ़ा—

"वही मालिक है उन सब चीज़ों का जो आसमानों और ज़मीन में है और जो कुछ ज़मीन और आसमान के दरमियान है और जो कुछ ज़मीन के नीचे है।"

(क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-6)

तो हज़रत उमर (रज़ि०) बरदाश्त न कर सके और बोले, "ऐ फ़ातिमा, जो कुछ आसमानों में है और जो कुछ ज़मीन के नीचे है क्या वह सब तुम्हारे ख़ुदा का है?"

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) ने जवाब दिया, "बेशंक भाई! हमारा अल्लाह बड़ी शानवाला और क़ुदरतवाला है।"

हज़रत उमर (रज़ि०) ने कहा, "ज़रा ये पन्ने मुझे भी दो।"

हज़रम फ़ातिमा (रज़ि०) ने जवाब दिया, "भाई, हमारे अल्लाह का हुक्म है, जब तक कोई पाक-साफ़ न हो अल्लाह के कलाम को हाथ न लगाए। आप पहले नहा-धो लें, फिर इन पाकीज़ा पन्नों को देखें।"

यह सुनकर हज़रत उमर (रज़ि०) उठे, उन्होंने ग़ुस्ल किया और फिर बड़े शौक़ से अल्लाह के कलाम को पढ़ना शुरू किया। इसके असर से उनके दिल की दुनिया बदलने लगी, और जब वे इस आयत पर पहुँचे—

> "मैं ही अल्लाह हूँ, मेरे सिवा कोई पूज्य नहीं, तू मेरी ही इबादत किया कर और मेरी याद के लिए नमाज़ क़ायम कर।" (क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-14)

तो बेइख़्तियार हो गए और फूट-फूटकर रोने लगे, यहाँ तक कि दाढ़ी के सारे बाल भीग गए। फिर अपने बहनोई और बहन से कहने लगे, "ख़ुदा के लिए मेरे ज़ुल्म को माफ़ कर दो और गवाह रहो कि मैं सच्चे दिल से मुहम्मद (सल्ल०) पर ईमान लाया हूँ।"

फिर उन्होंने हज़रत ख़ब्बाब (रज़ि०) से दरख़ास्त की कि "मुझे मुहम्मद (सल्ल०) के पास ले चलो ताकि उनके हाथ पर इस्लाम क़बूल करने की खुशक़िस्मती मुझे हासिल हो।"

हज़रत ख़ब्बाब (रज़ि०) ने उन्हें बताया कि इस वक़्त नबी (सल्ल०) अपने कुछ सहाबियों के साथ दारे-अरक़म में हैं। अब हज़रत उमर (रज़ि०) कमर से तलवार बाँधे हुए दारे-अरक़म को चल पड़े। वहाँ पहुँचकर दरवाज़ा खटखटाया तो सहाबियों (रज़ि०) को दरवाज़ा खोलने में झिझक हुई, लेकिन हज़रत हमज़ा (रज़ि०) जोश

में आ गए और कड़ककर बोले, "दरवाज़ा खोल दो! अगर उमर नेक इरादे से आया है तो ठीक है, वरना उसी की तलवार से उसका सिर उड़ा दूँगा।"

दरवाज़ा खुलने पर हज़रत उमर (रज़ि०) बड़ी बेताबी से अन्दर दाख़िल हुए। नबी (सल्ल०) ने उनकी चादर को अपनी मुट्ठी में दबाकर ज़ोर से खींचा और फ़रमाया, "इब्ने-ख़त्ताब किस इरादे से यहाँ आए हो?"

हज़रत उमर (रज़ि०) नुबूवत के जलाल से काँप उठे, सिर झुकाकर बड़े अदब से बोले, "ऐ अल्लाह के रसूल! मैं अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान लाने के लिए हाज़िर हुआ हूँ।"

यह सुनकर नबी (सल्ल०) ने ज़ोर से कहा, "अल्लाहु अकबर।" सारे सहाबा समझ गए कि उमर (रज़ि०) मुसलमान हो गए हैं। उन्होंने ख़ुशी और जोश में इतनी ज़ोर से तकबीर का नारा बुलन्द किया कि मक्का की पहाड़ियाँ गूँज उठीं।

हज़रत उमर-बिन-ख़त्ताब (रज़ि०) का इस्लाम क़बूल करना इस्लामी तारीख़ की एक महत्वपूर्ण घटना है। वे अपनी निडरता, बहादुरी, दीनी ग़ैरत, सूझ-बूझ और दूर-अन्देशी की वजह से इस्लाम को ताक़त पहुँचाने का मज़बूत ज़रिआ साबित हुए। इस्लाम की शीतल छाया तक हज़रत उमर (रज़ि०) को पहुँचाने में हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) का बड़ा हिस्सा है। यह उनके ख़ालिस ईमान और दीन पर साबित-क़दमी का ही नतीजा था कि क़ुरैश के बेहद सख़्त इनसान का पत्थर दिल भी पिघल गया और वे पलक झपकते इस्लाम के दुश्मनों के गरोह से निकलकर इस्लाम पर जान न्योछावर करनेवालों के गरोह में शामिल हो गए।

हज़रत उमर (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने की जो मशहूर

रिवायत ऊपर बयान की गई है, उससे मालूम होता है कि हज़रत उमर (रज़ि०) को पहली बार हज़रत नुऐम (रज़ि०) ने हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) और हज़रत सईद (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल कर लेने की जानकारी दी। लेकिन बुख़ारी की एक रिवायत से साबित है कि हज़रत उमर (रज़ि०) को उनके मुसलमान हो जाने की पहले से ख़बर थी और वे उन्हें इस्लाम लाने के जुर्म में बाँध दिया करते थे।

सहीह बुख़ारी में है कि जब हज़रत उसमान (रज़ि०) को ज़ालिमों ने शहीद कर दिया तो हज़रत सईद-बिन-ज़ैद (रज़ि०) को बहुत दुख हुआ। उस ज़माने में वे कूफ़ा में रहते थे। उन्होंने कूफ़ा की मस्जिद में लोगों से ख़िताब करते हुए फ़रमाया—

> "लोगो, ख़ुदा की क़सम! मैंने अपने आपको इस हाल में देखा है कि इस्लाम लाने के जुर्म में उमर (रज़ि०) मुझे और अपनी बहन को बाँध दिया करते थे, जबकि वे मुसलमान नहीं हुए थे, और तुमने उसमान (रज़ि०) के साथ जो बुरा सुलूक किया है अगर उसकी वजह से उहुद पहाड़ फट जाए तो उसका फट जाना दुरुस्त है।"

इस रिवायत से मालूम होता है कि हज़रत उमर (रज़ि०) इस्लाम क़बूल करने से पहले बहन और बहनोई पर ईमान लाने के जुर्म में कभी-कभी सख़्ती किया करते थे लेकिन यह सख़्ती सिर्फ़ उन्हें बाँध देने की हद तक थी। जिस दिन उन्होंने इस्लाम क़बूल किया उस दिन उन्होंने बहन, बहनोई को बाँधा नहीं, मार-पीट पर उतर आए जिसके नतीजे में बहन उनके हाथ से सख़्त ज़ख़्मी हो गईं। शायद क़ुदरत को यही मंज़ूर था कि बहन के सिर से ख़ून बहता देखकर उनका सख़्त दिल नर्म हो जाए।

सन् 13 नबवी में नबी (सल्ल०) ने सहाबियों को मदीना

हिजरत करने की इजाज़त दी तो हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) और उनके शौहर हज़रत सईद (रज़ि०) भी मुहाजिरों के साथ मदीना पहुँचे और हज़रत अबू-लुबाबा अनसारी (रज़ि०) के घर ठहरे।

दुर्रे-मंसूर की एक रिवायत के मुताबिक़ हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) का इन्तिक़ाल हज़रत उमर (रज़ि०) की खिलाफ़त के ज़माने में हुआ। लेकिन सीरत-निगारों ने लिखा है कि उनके इन्तिक़ाल के ज़माने का पता नहीं चलता।

इब्ने-असीर का बयान है कि उनका एक बेटा था, जिसका नाम अब्दुर्रहमान था, लेकिन हाफ़िज़ इब्ने-अब्दुल-बर (रह०) का बयान है कि उनके चार बेटे थे, अब्दुल्लाह, अब्दुर्रहमान, ज़ैद और असवद।

सीरत-निगारों का बयान है कि हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०) का मर्तबा इल्म और फ़ज़्ल में बहुत बुलन्द था। वे बहुत अक़्लमन्द थीं, नेकी के कामों में हमेशा आगे-आगे रहती थीं, बुराइयों से उन्हें नफ़रत थी, लोगों को भलाई का हुक्म देतीं और बुराइयों से रोकती थीं।

हज़रत उम्मे-जमील फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि०) के इससे ज़्यादा हालात सीरत की किताबों में नहीं मिलते।

हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस ख़सअमीया (रज़ि०)

मुहर्रम सन् 7 हिजरी में ख़ैबर की लड़ाई के कुछ दिनों बाद की घटना है, हज़रत उमर (रज़ि०) अपनी बेटी उम्मुल-मोमिनीन हज़रत हफ़सा (रज़ि०) से मिलने उनके घर तशरीफ़ ले गए। वहाँ एक अजनबी ख़ातून हज़रत हफ़सा (रज़ि०) से बातें कर रही थीं।

हज़रत उमर (रज़ि०) ने पूछा, “ये ख़ातून कौन हैं।?”

हज़रत हफ़सा (रज़ि०) ने जवाब दिया, "ये जाफ़र-बिन-अबू-तालिब की बीदी असमा-बिन्ते-उमैस हैं।"

हज़रत उमर (रज़ि०) ने फ़रमाया, "अच्छा, वह हबशावाली, वह समुद्रवाली?"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने कहा, "हाँ, वही।"

हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि०) ने ख़ुशमिज़ाजी से कहा, "हमने तुमसे पहले मदीना की तरफ़ हिजरत की, इसलिए हम तुमसे ज़्यादा नबी (सल्ल०) के हक़दार हैं।"

यह सुनकर हज़रत असमा (रज़ि०) को ग़ुस्सा आ गया। वे बोलीं, "जी हाँ, आप ठीक कहते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि आप लोग नबी (सल्ल०) के साथ रहते थे, नबी (सल्ल०) भूखों को खाना खिलाते थे और जाहिलों को तालीम देते थे, लेकिन हमारा हाल यह था कि हम हबशा के दूर के और बहुत ही बुरे इलाक़ो में परदेसियों की तरह भटक रहे थे, हमको तकलीफ़ें दी जाती थीं, हम डर की ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे और यह सब कुछ अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की रिज़ा के लिए था। ख़ुदा की क़सम! आपने जो कुछ कहा है, जब तक उसको नबी (सल्ल०) से बयान न कर लूँगी, न खाना खाऊँगी, न पानी पिऊँगी– ख़ुदा की क़सम! न किसी क़िस्म का झूठ बोलूँगी, न उल्टी-सीधी बात कहूँगी और इस बात को बढ़ा-चढ़ाकर भी नहीं कहूँगी।"

अभी बात हो ही रही थी कि नबी (सल्ल०) तशरीफ़ ले आए। हज़रत असमा (रज़ि०) ने कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरे माँ-बाप आपपर क़ुरबान, उमर यूँ कहते हैं।" फिर उन्होंने सारी बात बता दी। नबी (सल्ल०) ने पूछा, "तो तुमने उन्हें क्या जवाब दिया?" हज़रत असमा (रज़ि०) ने जो कहा था, सब बता दिया। नबी

(सल्ल०) ने फ़रमाया, “वे तुमसे ज़्यादा मुझपर हक़ नहीं रखते। उमर और उनके साथियों की सिर्फ़ एक हिजरत है और तुम कशतीवालों की दो हिजरतें हैं।” (यानी एक मक्का से हबशा और दूसरी हबशा से मदीना।)

नबी (सल्ल०) से यह सुनकर हज़रत असमा (रज़ि०) को इतनी ख़ुशी हुई कि उनकी ज़बान पर बेइख़्तियार अल्लाह की बड़ाई और तारीफ़ के कलिमात जारी हो गए।

फिर जब इस बातचीत की चर्चा फैली तो हबशा के मुहाजिर झुंड-के-झुंड हज़रत असमा (रज़ि०) के पास आते, उनसे इस बातचीत को बड़े शौक़ से सुनते और ख़ुश होते। हज़रत असमा (रज़ि०) कहती हैं कि हबशा के मुहाजिरों के लिए नबी (सल्ल०) के इस मुबारक इरशाद से बढ़कर कोई और बात प्रिय नहीं थी।

हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) के बुलन्द मर्तबा होने की ताईद उनके 'ज़ुल-हिजरतैन' (दो बार हिजरत करनेवाली) होने की वजह से ख़ुद नबी (सल्ल०) ने की। इनका ताल्लुक़ क़बीला ख़सअम से था। वे उन अज़ीम औरतों में से थीं जिन्होंने इस्लाम के बिलकुल शुरू के ज़माने में मुश्किल हालात और बड़े-बड़े ख़तरों से बेपरवा होकर इस्लाम की दौलत हासिल की थी।

हज़रत असमा (रज़ि०) के बाप उमैस के नसब के बारे में काफ़ी इख़्तिलाफ़ है। किसी ने उमैस के बाप का नाम माबद-बिन-तमीम लिखा है और किसी ने माद-बिन-हारिस। माँ का नाम हिन्द (ख़ौला)-बिन्ते-औफ़ था। उम्मुल-मोमिनीन हज़रत मैमूना-बिन्ते-हारिस (रज़ि०) भी उन्हीं की बेटी थीं, इस तरह हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) मैमूना (रज़ि०) की माँ शरीक बहन थीं।

अल्लामा इब्ने-साद (रह०) और इब्ने-हिशाम (रह०) का बयान

है कि जब हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) ईमान लाईं, उस वक़्त सिर्फ़ तीस आदमी ईमान लाए थे और नबी (सल्ल०) ने उस वक़्त दारे-अरक़म में क़ियाम नहीं किया था। इस तरह हज़रत असमा (रज़ि०) 'साबिक़ूनल-अव्वलून' यानी बिलकुल शुरू में ईमान लानेवालों की जमाअत में भी बुलन्द दर्जा रखती हैं।

इसके अलावा वे इस्लामी तारीख़ में इस वजह से भी बहुत मशहूर हुईं कि उनका निकाह एक-एक करके तीन ऐसी बुलन्द मर्तबा हस्तियों से हुआ जो इस्लाम की ताक़त और शान थीं और नबी (सल्ल०) को बहुत महबूब थीं। हज़रत असमा (रज़ि०) का पहला निकाह नबी (सल्ल०) के चचेरे भाई हज़रत जाफ़र-बिन-अबू-तालिब (रज़ि०) से हुआ। उनकी शहादत के बाद दूसरा निकाह हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से हुआ। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के इन्तिक़ाल के बाद तीसरा निकाह हज़रत अली (रज़ि०) से हुआ।

हज़रत असमा (रज़ि०) और उनके पहले शौहर हज़रत जाफ़र (रज़ि०) ने एक ही ज़माने में इस्लाम क़बूल किया था।

सन् 4 नबवी के शुरू में जब नबी (सल्ल०) ने लोगों को खुल्लम-खुल्ला इस्लाम की तरफ़ बुलाना शुरू किया तो मक्का के मुशरिक ग़ुस्से से दीवाने हो उठे और इस्लाम क़बूल करनेवालों पर ज़ुल्म और सितम के पहाड़ तोड़ने लगे। जब ये ज़ुल्म बरदाश्त की हदें पार करने लगे तो सन् 5 नबवी में नबी (सल्ल०) ने मुसलमानों को इजाज़त दे दी कि वे हबशा हिजरत कर जाएँ। वहाँ का बादशाह एक नेक दिल और इनसाफ़ पसन्द ईसाई था। चुनाँचे पहली बार ग्यारह मर्दों और चार औरतों का क़ाफ़िला शुऐबा की बन्दरगाह से जहाज़ में सवार होकर हबशा गया। सन् 6 नबवी में

अस्सी से ज़्यादा मर्दों और उन्नीस औरतों का एक और क़ाफ़िला मक्का से हबशा के लिए निकला। इस क़ाफ़िले में हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) और उनके शौहर हज़रत जाफ़र-बिन-अबू-तालिब (रज़ि०) भी शामिल थे। इस क़ाफ़िले में कुछ ऐसे लोग भी थे जो पहली हिजरत के बाद हबशा से वापस मक्का आ गए थे लेकिन यहाँ के माहौल को पहले ही की तरह ठीक न पाकर दोबारा हिजरत करने पर आमादा हो गए थे।

मक्का के क़ुरैश ने इन लोगों का समुद्र तक पीछा किया, लेकिन वे उनके पहुँचने से पहले ही कश्तियों में बैठकर आगे बढ़ चुके थे। हबशा पहुँचकर इन लोगों को शान्ति मिली, लेकिन परदेस की ज़िन्दगी परदेस की ही होती है। मुहाजिरों को तरह-तरह की मुसीबतें पेश आती थीं (बीमारी और ग़रीबी जैसी परेशानियाँ), लेकिन वे साबित-क़दमी और सब्र से उन सबको बरदाश्त करते थे।

हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०), उनके शौहर जाफ़र-बिन-अबू-तालिब (रज़ि०) और दूसरे बहुत-से मुहाजिर हबशा में चौदह साल तक परदेसियों की तरह ज़िन्दगी गुज़ारते रहे। इसी बीच नबी (सल्ल०) मक्का से हिजरत करके मदीना तशरीफ़ ले गए और बद्र, उहुद, ख़न्दक़ और ख़ैबर की लड़ाइयाँ भी गुज़र गईं।

सन् 7 हिजरी मुहर्रम के महीने में ख़ैबर पर फ़तह हासिल हुई तो सारे मुसलमान हबशा से मदीना आ गए। उनमें हज़रत असमा (रज़ि०) और हज़रत जाफ़र (रज़ि०) भी थे। ख़ैबर की जीत से मुसलमान पहले ही ख़ुश थे, अपने इन भाइयों के आने से उन्हें दोगुनी ख़ुशी हुई। नबी (सल्ल०) ने हज़रत जाफ़र (रज़ि०) को गले लगाया, उनका माथा चूमा और फ़रमाया, “मैं नहीं जानता कि मुझे जाफ़र के आने से ख़ुशी हुई या ख़ैबर की जीत से।”

उसी ज़माने में एक दिन हज़रत असमा (रज़ि०) उम्मुल-मोमिनीन हज़रत हफ़सा (रज़ि०) से मिलने उनके घर गईं तो वहाँ वह बातचीत हुई जिसे ऊपर बयान किया जा चुका है। उस वक़्त कुछ सहाबियों (रज़ि०) का यह ख़याल था कि "मुहाजिरीन-अव्वलीन' (सबसे पहले हिजरत करनेवाले) वही हैं जिन्होंने मक्का से मदीना हिजरत की। लेकिन नबी (सल्ल०) ने यह वाज़ेह कर दिया कि जिन सहाबियों (रज़ि०) ने पहले हबशा की तरफ़ हिजरत की, फिर हिजरत करके मदीना आए, उन्हें दो हिजरतों की ख़ुशनसीबी हासिल हुई। यानी मदीना के मुहाजिरों का रुतबा हबशा के मुहाजिरों से ज़्यादा नहीं है। चूँकि यह बात नबी (सल्ल०) ने हज़रत असमा (रज़ि०) के पूछने पर फ़रमाई थी, इसलिए हबशा के मुहाजिर बार-बार उनके पास आते और यह हदीस सुनकर ख़ुशी से फूले न समाते।

हज़रत असमा (रज़ि०) और उनके शौहर को मदीना आए अभी एक ही साल गुज़रा था कि एक बार फिर उनकी आज़माइश की घड़ी आ गई। सन् 8 हिजरी में शाम (सीरिया) के एक क़स्बा 'मुअता' के रईस शुरहबील-बिन-अम्र ग़स्सानी ने नबी (सल्ल०) के एक एलची हज़रत हारिस-बिन-उमैर अज़दी (रज़ि०) को शहीद कर दिया। वे नबी (सल्ल०) का ख़त लेकर बसरा के हाकिम हारिस-बिन-शिम्र ग़स्सानी के पास जा रहे थे। शुरहबील की इस हरकत से नबी (सल्ल०) सख़्त नाराज़ हुए और आप (सल्ल०) ने हारिस-बिन-उमैर (रज़ि०) का बदला लेने के लिए तीन हज़ार मुजाहिदों का एक लशकर मुअता की तरफ़ भेजा। इस लशकर का नेतृत्व हज़रत ज़ैद-बिन-हारिस (रज़ि०) कर रहे थे और इसमें हज़रत जाफ़र (रज़ि०) भी शामिल थे। नबी (सल्ल०) ने हज़रत ज़ैद

(रज़ि०) को रुख़सत करते हुए फ़रमाया—

"अगर इस लड़ाई में ज़ैद शहीद हो जाएँ तो जाफ़र अमीर होंगे, अगर जाफ़र भी शहीद हो जाएँ तो अब्दुल्लाह-बिन-रवाहा उनकी जगह अमीर बनाए जाएँगे।"

मुअता के इलाक़े में उन दिनों इत्तिफ़ाक़ से रोम का बादशाह हिरक़्ल भी आया हुआ था और बलक़ा नामी इलाक़े में ठहरा हुआ था। शुरहबील ने उससे मदद माँगी। हिरक़्ल ने एक बड़ी फ़ौज उसकी मदद के लिए भेज दी। क़ैस, जुज़ाम, लख़्म आदि के लड़ाकू ईसाई क़बीले भी शुरहबील के झण्डे तले जमा हो गए। इस तरह तीन हज़ार मुसलमानों के मुक़ाबले में दुश्मनों की तादाद एक लाख से भी ऊपर थी। मुअता, मदीना से बहुत दूर था, इसलिए वहाँ से फ़ौजी मदद मिलनी मुश्किल थी और पीछे हटना बेइज़्ज़ती और ज़िल्लत की बात थी।

मुसलमान अल्लाह के भरोसे दुश्मन के टिड्डी दल से मुक़ाबले पर उतर आए। मुअता के मैदान में बड़ी भयंकर लड़ाई हुई। लशकर के अमीर हज़रत ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि०) बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए शहीद हो गए। अब हज़रत जाफ़र (रज़ि०) ने अलम (झण्डा) सम्भाला और ऐसी दिलेरी और साबित-क़दमी से लड़ें कि मैदान में बहादुरी भी 'शाबाश' कह उठी। अल्लाह के इस सिपाही ने इस लड़ाई में जिस्म पर नब्बे ज़ख़्म खाए जिनमें कोई भी पीठ पर नहीं था। एक हाथ कट गया तो अलम (झण्डा) दूसरे हाथ में सम्भाला, जब दूसरा हाथ शहीद हुआ तो दाँतों में उसे पकड़ लिया। हर तरफ़ से दुश्मनों ने घेरा हुआ था, तीरों और तलवारों की बारिश हो रही थी। आख़िर नबी (सल्ल०) का यह मज़बूत हाथ और अल्लाह के दीन को बुलन्द करनेवाला यह बहादुर मुजाहिद शहीद हो

गया। अब हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-रवाहा अंसारी (रज़ि०) अमीर बने। वे भी बहादुरी से लड़ते हुए शहीद हो गए तो हज़रत ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि०) ने लशकर की कमान संभाली और मुसलमानों को ललकारकर कहा—

> "ऐ दीन के सिपाहियो! जन्नत तुम्हारा इन्तिज़ार कर रही है और पीछे हटनेवालों के लिए जहन्नम के शोले भड़क रहे हैं। आगे बढ़ो और अल्लाह की ख़ुशनूदी हासिल कर लो।"

मुसलमानों ने अब कमर-से-कमर जोड़ ली और एक नए इरादे और हौसले के साथ हमला शुरू किया। लड़ते-लड़ते हज़रत ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि०) के हाथ से नौ तलवारें टूटीं और आख़िरकार अल्लाह के दीन के सिपाहियों ने अपनी बेपनाह बहादुरी से अपने से चालीस गुना बड़ी फ़ौज को लड़ाई के मैदान में पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। दुश्मन के पीछे हटने के बाद हज़रत ख़ालिद (रज़ि०) इस्लामी फ़ौज को बड़ी एहतियात के साथ बचाकर वापस ले आए।

जिस वक़्त लड़ाई की आग ज़ोर से भड़क रही थी, अल्लाह ने लड़ाई के मैदान का पूरा नक़्शा नबी (सल्ल०) के सामने कर दिया। नबी (सल्ल०) उस वक़्त मस्जिदे-नबवी में थे और सहाबियों (रज़ि०) को लड़ाई के हालात बिलकुल इस तरह बता रहे थे, जैसे वह बिलकुल आप (सल्ल०) के सामने हो रही हो। जब हज़रत जाफ़र (रज़ि०) के दोनों बाज़ू शहीद हो गए और उन्होंने शहादत पाई तो नबी (सल्ल०) की आँखों से आँसू बहने लगे और आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "मैं जन्नत में जाफ़र को नए बाज़ुओं के साथ उड़ान भरते देख रहा हूँ।" नबी (सल्ल०) के इसी बयान के मुताबिक़ हज़रत

जाफ़र (रज़ि०) 'तैयार' (उड़ान भरनेवाले) और ज़ुल-जनाहैन (दो बाज़ूवाले) के लक़ब से मशहूर हुए। इसके बाद जब हज़रत ख़ालिद (रज़ि०) लशकर के अमीर बनाए गए तो नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "अब अल्लाह की तलवारों में से एक तलवार ने अलम (झण्डा) संभाला है।" उसी दिन से हज़रत ख़ालिद (रज़ि०) सैफ़ुल्लाह (अल्लाह की तलवार) के लक़ब से पुकारे जाने लगे।

इस घटना के बाद नबी (सल्ल०) हज़रत असमा (रज़ि०) के घर तशरीफ़ ले गए। वे उस वक़्त आटा गूँध चुकी थीं और बच्चों को नहला-धुलाकर कपड़ा पहना रही थीं। आप (सल्ल०) ने भीगी आँखों के साथ फ़रमाया, "जाफ़र के बच्चों को मेरे पास लाओ!" हज़रत असमा (रज़ि०) बच्चों को ले आईं। नबी (सल्ल०) ने बड़े ग़म और दुख की हालत में बच्चों को गले लगाया और उनके माथों को चूमा।

हज़रत असमा (रज़ि०) नबी (सल्ल०) की आँखों में आँसू देखकर परेशान हो गईं और पूछने लगीं–

"ऐ अल्लाह के रसूल! मेरे माँ-बाप आप पर क़ुरबान, आप इतने ग़मगीन क्यों हैं? क्या जाफ़र के बारे में कोई ख़बर आई है?"

नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "हाँ, वे शहीद हो गए हैं।"

इस ग़मगीन घटना की ख़बर सुनते ही हज़रत असमा (रज़ि०) की चीख़ निकल गई। उनके रोने की आवाज़ सुनकर पास-पड़ोस की औरतें जमा हो गईं।

नबी (सल्ल०) वापस तशरीफ़ ले गए और अपनी पाक बीवियों (रज़ि०) से फ़रमाया, "जाफ़र के घरवालों का ख़याल रखना, वे

अपने होश में नहीं हैं, उन्हें सीना पीटने और विलाप करने से मना करना।"

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) को भी अपने बहादुर चचा की शहादत का बहुत सदमा हुआ और वे 'हाय मेरे चचा', 'हाय मेरे चचा' कहकर रोती हुई नबी (सल्ल०) के पास हाज़िर हुईं। नबी (सल्ल०) ने भीगी आँखों से फ़रमाया, "बेशक जाफ़र जैसे शख़्स पर रोनेवालियों को रोना चाहिए।"

इसके बाद नबी (सल्ल०) ने अपनी प्यारी बेटी से फ़रमाया, "फ़ातिमा! जाफ़र के बच्चों के लिए खाना तैयार करो क्योंकि आज असमा सख़्त ग़मगीन है।"

तीसरे दिन नबी (सल्ल०) फिर हज़रत असमा (रज़ि०) के घर तशरीफ़ ले गए और उनको सब्र की नसीहत की।

हज़रत जाफ़र (रज़ि०) की शहादत के छः महीने बाद, सन् 8 हिजरी (हुनैन की लड़ाई के ज़माने में) नबी (सल्ल०) ने हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) का निकाह हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से पढ़ा दिया। दो साल के बाद उनके बेटे मुहम्मद-बिन-अबू-बक्र (रज़ि०) पैदा हुए। उस ज़माने में हज़रत असमा (रज़ि०) हज के लिए मक्का आई हुई थीं। ज़ुल-हुलैफ़ा में बच्चे की पैदाइश हुई। हज़रत असमा (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) से पूछा, "ऐ अल्लाह के रसूल! अब मैं क्या करूँ?"

आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "नहा-धोकर एहराम बाँध लो।"

सन् 11 हिजरी में जब नबी (सल्ल०) का इन्तिक़ाल हुआ तो हज़रत असमा (रज़ि०) पर ग़म का पहाड़ टूट पड़ा। इनसे भी बढ़कर सदमा फ़ातिमा (रज़ि०) को हुआ। हज़रत असमा (रज़ि०) ने बड़ी हिम्मत और सब्र से काम लिया और अपना ज़्यादा वक़्त

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) की दिल-जोई करने में गुज़ारने लगीं। थोड़े ही दिनों में हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) का भी आख़िरी वक़्त आ पहुँचा। अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) ने लिखा है कि अपने इन्तिक़ाल से पहले फ़ातिमा (रज़ि०) ने हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) को बुला भेजा और उनसे फ़रमाया, "मेरा जनाज़ा ले जाते वक़्त और दफ़न के वक़्त परदे का पूरा-पूरा ख़याल रखना और मेरे ग़ुस्ल में अपने और मेरे शौहर (हज़रत अली रज़ि०) के सिवा किसी और से मदद न लेना।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल की बेटी! मैंने हबशा में देखा है कि जनाज़े पर पेड़ की डालियाँ बाँधकर एक डोले की शक्ल बना लेते हैं और उसपर पर्दा डाल देते हैं।" फिर उन्होंने खजूर की कुछ डालियाँ मँगाईं और उन्हें जोड़कर उनपर कपड़ा ताना और हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) को दिखाया। उन्होंने इसे पसन्द किया और उनके इन्तिक़ाल के बाद उनका जनाज़ा इसी तरीक़े से उठा।

इब्ने-जौज़ी और कुछ दूसरे विद्वानों ने लिखा है कि हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) की मय्यित को हज़रत अली (रज़ि०), हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) और हज़रत सलमा-उम्मे-राफ़े (रज़ि०) ने ग़ुस्ल दिया।

सन् 13 हिजरी में जब हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) बीमार पड़े और उनके इन्तिक़ाल का वक़्त क़रीब आया तो उन्होंने वसीयत की कि उनकी मय्यित को हज़रत असमा (रज़ि०) ग़ुस्ल दें। चुनाँचे उनकी वसीयत के मुताबिक़ हज़रत असमा (रज़ि०) ने ही हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के जनाज़े को ग़ुस्ल दिया।

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के इन्तिक़ाल के बाद हज़रत असमा

(रज़ि०) का निकाह हज़रत अली (रज़ि०) से हुआ। मुहम्मद-बिन-अबू-बक्र की उम्र उस वक़्त तीन साल थी। वे भी अपनी माँ के साथ आए और हज़रत अली (रज़ि०) की परवरिश में पले-बढ़े।

एक दिन बड़े मज़े की बात हुई। मुहम्मद-बिन-जाफ़र (रज़ि०) और मुहम्मद-बिन-अबू-बक्र (रज़ि०) इस बात पर झगड़ पड़े कि दोनों में से किसके बाप ज़्यादा इज़्ज़तवाले थे। हज़रत अली (रज़ि०) ने बच्चों की यह दिलचस्प बहस सुनी तो हज़रत असमा (रज़ि०) से कहा, "तुम इस झगड़े का फ़ैसला कर दो।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने कहा, "मैंने अरब के नौजवानों में जाफ़र (रज़ि०) जैसा बुलन्द अख़लाक़वाला किसी को नहीं पाया और बूढ़ों में अबू-बक्र (रज़ि०) से अच्छा किसी को नहीं देखा।"

हज़रत अली (रज़ि०) ने मुस्कुराकर फ़रमाया, "तुमने हमारे लिए तो कुछ भी नहीं छोड़ा।"

हज़रत अली (रज़ि०) से हज़रत असमा (रज़ि०) के एक बेटे यहया पैदा हुए।

सन् 38 हिजरी में हज़रत असमा (रज़ि०) के जवान बेटे मुहम्मद-बिन-अबू-बक्र को मिस्र में क़त्ल कर दिया गया और उनके दुश्मनों ने उनकी लाश गधे की खाल में रखकर जला दी। हज़रत असमा (रज़ि०) को जब यह दर्दनाक ख़बर मिली तो वे सकते में आ गईं, सब्र व शुक्र से काम लिया और इबादत में लग गईं।

सन् 40 हिजरी में हज़रत अली (रज़ि०) ने शहादत पाई और उसके बाद जल्द ही हज़रत असमा (रज़ि०) का भी इन्तिक़ाल हो गया। उन्होंने अपने पीछे चार लड़के छोड़े। हज़रत जाफ़र (रज़ि०) से अब्दुल्लाह, मुहम्मद और औन और हज़रत अली (रज़ि०) से

यहया। कुछ सीरत-निगारों ने लिखा है कि हज़रत जाफ़र (रज़ि०) से इनकी दो बेटियाँ भी थीं।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-जाफ़र (रज़ि०) बड़े दरियादिल थे और अपने माल-दौलत से दूसरों की ख़ूब मदद किया करते थे। इसी बात से वे तारीख में बड़े मशहूर हुए। नबी (सल्ल०) उनसे बहुत मुहब्बत करते थे। एक बार आप (सल्ल०) ने फ़रमाया—

"ऐ अल्लाह! अब्दुल्लाह को जाफ़र के घर का सच्चा जानशीन बना, इसकी बैअत में बरकत दे और मैं दुनिया और आख़िरत दोनों में जाफ़र की औलाद का सरपरस्त हूँ।"

फिर उनका हाथ पकड़कर फ़रमाया—

"अब्दुल्लाह सूरत और सीरत में मुझसे मिलते हैं।"

हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) बड़े ऊँचे मर्तबेवाली सहाबिया थीं। वे बहुत नेक और सूझ-बूझवाली थीं। इस्लाम की दावत के शुरू के दिनों में जब मक्का के काफ़िरों के ग़ुस्से की आग भड़क-भड़ककर मुसलमानों के अम्न-चैन को मिट्टी मे मिला रही थी, उन्होंने हक़ का दामन थामने में ज़रा भी झिझक महसूस नहीं की और इस्लाम की ख़ातिर ज़ुल्म व सितम सहनेवालों की उस पाकीज़ा जमाअत में शामिल हो गईं जिसे अल्लाह ने साफ़ अल्फ़ाज़ में अपनी ख़ुशनूदी की ख़ुशख़बरी सुनाई है।

ये उनकी ख़ूबियाँ और अच्छाइयाँ ही थीं कि नबी (सल्ल०) के मेहरबान चचा अबू-तालिब, जो बनू हाशिम के रईस थे, ने उन्हें अपनी बहू बनाया। वे हज़रत जाफ़र (रज़ि०) की बीवी होने के नाते नबी (सल्ल०) की भावज होती थीं और उम्मुल-मोमिनीन हज़रत

मैमूना (रज़ि०) की 'माँ-शरीक' बहन होने की निस्बत से आप (सल्ल०) की साली भी होती थीं। नबी (सल्ल०) उनसे बड़ी मुहब्बत रखते थे और उनको भी नबी (सल्ल०) से बड़ी मुहब्बत और अक़ीदत थी। उन्होंने अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की ख़ुशनूदी की ख़ातिर चौदह साल तक हबशा में परदेसियोंवाली ज़िन्दगी गुज़ारी।

मुसनद अहमद-बिन-हम्बल में रिवायत है कि हज़रत असमा (रज़ि०) ने सीधे नबी (सल्ल०) से इल्म हासिल किया। एक बार नबी (सल्ल०) ने उन्हें एक दुआ सिखाई और फ़रमाया कि मुसीबत और परेशानी के वक़्त इसे पढ़ा करो।

नबी (सल्ल०) हज़रत असमा (रज़ि०) के बच्चों से बड़ी मुहब्बत करते थे। इमाम हाकिम ने लिखा है कि एक बार हज़रत असमा (रज़ि०) के कमसिन बेटे अब्दुल्लाह-बिन-जाफ़र (रज़ि०) बच्चों के साथ खेल रहे थे। नबी (सल्ल०) उधर से गुज़रे तो उन्हें उठाकर अपनी सवारी पर बैठा लिया।

मुस्लिम में रिवायत है कि एक बार नबी (सल्ल०) ने हज़रत असमा (रज़ि०) के बच्चों (हज़रत जाफ़र (रज़ि०) की औलाद) को दुबला-पतला देखा तो पूछा, "ये इतने कमज़ोर क्यों हैं?"

उन्होंने कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! इनको नज़र लग जाया करती है।"

नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "इनपर दम किया करो।"

हज़रत असमा (रज़ि०) ने एक ख़ास कलाम पढ़कर सुनाया और पूछा, "इसे नज़र लगने पर फ़ायदेमन्द बताया जाता है, क्या यह पढ़ लिया करूँ?"

चूँकि इस कलाम में शिर्क की मिलावट नहीं थी, इसलिए नबी (सल्ल०) ने उसकी इजाज़त दे दी।

इमाम बुख़ारी (रह०) और इब्ने-साद (रह०) का बयान है कि नबी (सल्ल०) के इन्तिक़ाल से एक दिन पहले हज़रत उम्मे-सलमा (रज़ि०) और हज़रत असमा (रज़ि०) ने आप (सल्ल०) की बीमारी को ज़ातुल-जंब (पसली का दर्द) समझा और दवा पिलानी चाही। नबी (सल्ल०) को दवा पीने की आदत नहीं थी, इसलिए मना कर दिया। इसी बीच आप (सल्ल०) पर बेहोशी छा गई, तो उन दोनों ने मुँह खोलकर दवा पिला दी। थोड़ी देर बाद जब नबी (सल्ल०) की बेहोशी दूर हुई तो फ़रमाया, "यह तरकीब असमा ने बताई होगी, वे हबशा से अपने साथ यही हिकमत लाई हैं। अब्बास के सिवा सबको यह दवा पिलाई जाए।" इसलिए सभी पाक बीवियों और हज़रत असमा (रज़ि०) को यह दवा पिलाई गई।

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) का बयान है कि हज़रत असमा (रज़ि०) ख़ाबों की ताबीर में भी समझ रखती थीं, इसलिए हज़रत उमर (रज़ि०) अक्सर उनसे ख़ाबों की ताबीर पूछा करते थे।

हज़रत असमा (रज़ि०) से साठ हदीसें रिवायत की गई हैं। इनसे रिवायत करनेवालों में हज़रत उमर (रज़ि०), हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि०) और हज़रत अबू-मूसा अशअरी (रज़ि०) जैसे बुलन्द मर्तबा सहाबी और कई मशहूर ताबिई शामिल हैं।

हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-अब्दुल्लाह (रज़ि०)

ख़ैबर की लड़ाई के कुछ दिनों बाद एक दिन एक संजीदा ख़ातून नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर हुईं। उन्होंने अपनी कुछ ज़रूरतें बताईं और नबी (सल्ल०) से दरख़ास्त की कि नक़द या सामान के रूप में उनकी मदद की जाए। इत्तिफ़ाक़ से नबी

(सल्ल०) के पास उस वक़्त कुछ भी मौजूद नहीं था, इसलिए आप (सल्ल०) ने विवशता जताई। लेकिन वे ख़ातून बार-बार अपनी दरख़ास्त दोहराती रहीं। इतने में अज़ान की आवाज़ आई और नबी (सल्ल०) नमाज़ के लिए मस्जिद तशरीफ़ ले गए। वे ख़ातून भी उठकर अपनी बेटी के घर चली गईं, जो क़रीब ही में था। उनकी बेटी हज़रत शुरहबील-बिन-हसना (रज़ि०) की बीवी थीं, जो बड़े ऊँचे मर्तबे के सहाबी थे। वहाँ उन्होंने देखा कि उनके दामाद हज़रत शुरहबील-बिन-हसना (रज़ि०) तहबन्द बाँधे घर में ही बैठे हैं और नमाज़ के लिए मस्जिद नहीं गए। ख़ातून दामाद को घर में बैठा देखकर सख़्त नाराज़ हुईं और ग़ुस्से में उन्हें बुरा-भला कहने लगीं कि नमाज़ का वक़्त हो गया और तू घर में ही है। हज़रत शुरहबील (रज़ि०) ने कहा, "ख़ाला जान, मुझे बुरा-भला मत कहिए! बात यह है कि मेरे पास एक ही क़मीज़ थी, जिसपर मैंने पेवन्द लगा रखा था, नबी (सल्ल०) ने वह कमीज़ मुझसे उधार माँग ली है। मैं नहीं चाहता कि नंगे बदन मस्जिद जाऊँ और लोग मुझसे इसकी वजह पूछें, तो मैं उनको बताऊँ कि मेरी क़मीज़ नबी (सल्ल०) ने उधार ली है।"

अब वे ख़ातून दामाद की बात सुनकर हैरान रह गईं और कहने लगीं, "मेरे माँ-बाप अल्लाह के रसूल पर क़ुरबान! मुझे क्या पता था कि नबी (सल्ल०) का आज-कल यह हाल है। मैंने अपनी दरख़ास्त बार-बार दोहराकर उनको तकलीफ़ दी।"

ये ख़ातून जिन्हें अल्लाह के हुक्म का इतना ख़याल था कि नमाज़ के वक़्त अपने दामाद को घर में बैठा देखकर ग़ुस्से से भर उठीं और फिर अनजाने में नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में अपनी दरख़ास्त को बार-बार दोहराने की वजह से सख़्त शर्मिन्दा हुईं, हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-अब्दुल्लाह (रज़ि०) थीं।

हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-अब्दुल्लाह (रज़ि०) बड़े ऊँचे मर्तबेवाली सहाबिया थीं। उनका ताल्लुक़ कुरैश के ख़ानदान अदी से था।

नसब का सिलसिला यह हैः शिफ़ा-बिन्ते-अब्दुल्लाह-बिन-अब्दे-शम्स-बिन-ख़लफ़-बिन-सदाद-बिन-अब्दुल्लाह-बिन-क़ुर्त-बिन-रज़ह-बिन-अदी-बिन-काब-बिन-लुऐ।

अदी के दूसरे भाई मुर्रा थे, जो नबी (सल्ल०) के बुज़ुर्गों में से हैं, इस तरह हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) के नसब का सिलसिला आठवीं पुश्त में नबी (सल्ल०) के नसबनामे से मिल जाता है। इसी तरह पाँचवी पुश्त में (अब्दुल्लाह-बिन-क़ुर्त पर) इनका नसब हज़रत उमर (रज़ि०) से जाकर मिल जाता है।

माँ का ताल्लुक़ बनू-मख़ज़ूम से था। उनका नाम फ़ातिमा-बिन्ते-वह्ब-बिन-अम्र-बिन-आइज़-बिन-उमर-बिन-मख़ज़ूम था।

हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) की शादी अबू-हसमा-बिन-हुज़ैफ़ा अदवी से हुई। अबू-हसमा के हालात सीरत की किसी किताब में नहीं मिलते।

सीरत की किताबों में हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने के साल की चर्चा भी नहीं मिलती, लेकिन इस बात पर सबका इत्तिफ़ाक़ है कि उन्होंने हिजरत से पहले किसी वक़्त मुसीबतों और परेशानियों के दौर में इस्लाम में शामिल होने की ख़ुशनसीबी हासिल की। फिर जब नबी (सल्ल०) ने सहाबियों (रज़ि०) को हिजरत की इजाज़त दी तो वे भी हिजरत करनेवाले ख़ुशनसीब लोगों में शामिल हो गईं।

हाफ़िज इब्ने-हजर (रह०) ने अपनी किताब 'इसाबा' में लिखा है कि वे उन कुछ औरतों में से थीं जिन्होंने सबसे पहले नबी

(सल्ल०) के हुक्म का पालन किया और मक्का को हमेशा के लिए छोड़कर मदीना में रहने लगीं।

नबी (सल्ल०) जब मदीना तशरीफ़ लाए तो थोड़े दिनों के बाद आप (सल्ल०) ने हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) को एक मकान दिला दिया, जिसमें वे अपने बेटे सुलैमान (रज़ि०) के साथ सारी ज़िन्दगी रहीं।

हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) क़ुरैश की उन गिनी-चुनी औरतों में से थीं जो लिखना-पढ़ना जानती थीं। कई बीमारियों के मरीज़ उनके पास आते थे और वे झाड़-फूँक से उनका इलाज करती थीं। सीरत-निगारों ने चींटी काटने के उनके मंत्र का बयान ख़ास तौर पर किया है। अल्लामा इब्ने-असीर का बयान है कि जब किसी को ज़हरीली चींटी काट लेती तो वे मंत्र पढ़कर काटे की जगह पर फूँकतीं।

सन् 3 हिजरी में नबी (सल्ल०) ने हज़रत हफ़सा-बिन्ते-उमर (रज़ि०) से निकाह किया तो एक बार हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) से फ़रमाया, "हफ़सा को भी लिखना सिखा दो!" हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) ने हुक्म का पालन किया और हज़रत हफ़सा (रज़ि०) को लिखना सिखा दिया।

एक बार हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर हुईं और कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! मैं जाहिलियत में झाड़-फूँक किया करती थी और चींटी काटने पर मंत्र पढ़ा करती थी, क्या मैं अब भी ऐसा कर सकती हूँ?"

चूँकि उस मंत्र में शिर्क की मिलावट नहीं थी, इसलिए नबी (सल्ल०) ने उन्हें इसकी इजाज़त दे दी और यह भी फ़रमाया, "यह मंत्र हफ़सा को भी सिखा दो।"

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) का बयान है कि नबी (सल्ल०) ने

फ़रमाया, "हफ़सा (रज़ि०) को भी चींटी काटने का मंत्र सिखा दो, जैसा कि तुमने उसे लिखना सिखाया।" इसलिए हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) ने हज़रत हफ़सा (रज़ि०) को लिखने के अलावा चींटी काटने का मंत्र भी सिखा दिया। इस तरह वे हज़रत हफ़सा (रज़ि०) की उस्ताद हैं।

सीरत-निगारों ने लिखा है कि हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) बहुत अक़्लमन्द और पढ़ी-लिखी थीं। उनको नबी (सल्ल०) से बड़ी मुहब्बत और अक़ीदत थी। नबी (सल्ल०) भी उनपर बहुत मेहरबानी करते और कभी-कभी उनके घर भी तशरीफ़ ले जाते।

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) का बयान है कि नबी (सल्ल०) कभी-कभी हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) के घर आराम फ़रमाते थे। उन्होंने एक बिस्तर और एक तहबन्द नबी (सल्ल०) के इस्तेमाल के लिए अलग रख छोड़ा था। चूँकि इन चीज़ों से नबी (सल्ल०) का जिस्म छुआ था, इसलिए हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) के लिए ये चीज़ें बड़ी मुबारक और अहमियत की थीं। उन्होंने उन दोनों पाकीज़ा चीज़ों को ज़िन्दगी-भर अपने साथ रखा। फिर उमवी हाकिम मरवान-बिन-हकम ने ये दोनों चीज़ें उनसे ले लीं। इस तरह शिफ़ा (रज़ि०) का ख़ानदान उस बरकत से महरूम हो गया।

नबी (सल्ल०) हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) पर बेहद मेहरबान थे, इस वजह से सभी सहाबी उनकी बहुत इज़्ज़त करते थे। हज़रत उमर (रज़ि०) तो उन्हें इतनी अहमियत देते कि अपनी ख़िलाफ़त के ज़माने में कभी-कभी कुछ ख़ास मसलों में उनसे सलाह-मशवरा लिया करते और उनके मशवरों की बहुत तारीफ़ करते।

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने लिखा है कि हज़रत उमर (रज़ि०) को हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) की बुज़ुर्गी और अच्छे मशवरों का बहुत

एहसास था और उन्होंने उनको बाज़ार के इन्तिज़ाम की ज़िम्मेदारी सौंपी हुई थी।

इस रिवायत से पता चलता है कि हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) अच्छे मशवरे देने की सलाहियत के साथ-साथ बेहतरीन इन्तिज़ाम करने की सलाहियत भी रखती थीं।

अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) का बयान है कि एक बार हज़रत उमर (रज़ि०) ने अपनी ख़िलाफ़त के ज़माने में हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) को बुला भेजा। जब वे हज़रत उमर (रज़ि०) के पास पहुँचीं, उसी वक़्त इत्तिफ़ाक़ से आतिका-बिन्ते-असद (रज़ि०) भी वहाँ आ गईं। हज़रत उमर (रज़ि०) ने दोनों को एक-एक चादर दी। जो चादर हज़रत आतिका (रज़ि०) को मिली, वह हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) की चादर से ज़्यादा अच्छी थी। हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने नाराज़ होकर हज़रत उमर (रज़ि०) से फ़रमाया, "तुम्हारे हाथों पर मिट्टी पड़े! मैंने आतिका से बहुत पहले इस्लाम क़बूल किया है, मैं तुम्हारी चचेरी बहन भी हूँ और फिर तुमने मुझे ख़ुद बुला भेजा था, लेकिन इन सारी बातों के बावजूद तुमने आतिका को मुझसे ज़्यादा अच्छी चादर दी, जबकि वे बिना बुलाए इत्तिफ़ाक़ से यहाँ आ गई थीं।"

हज़रत उमर (रज़ि०) ने फ़रमाया, "ख़ुदा की क़सम! यह चादर तुम्हारे ही लिए थी, लेकिन जब आतिका आ गईं तो मुझे उनका ख़याल करना पड़ा क्योंकि वे नसब में नबी (सल्ल०) से ज़्यादा क़रीब हैं।"[1]

---

[1] इस रिवायत से जहाँ यह बात साबित होती है कि हज़रत उमर (रज़ि०) नबी (सल्ल०) के रिश्तेदारों को अपने ख़ानदान 'बनू-अदी' के लोगों से ज़्यादा अहमियत देते थे, वहाँ उनके सब्र और सहनशीलता को भी मानना पड़ेगा। वे

हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) का इन्तिक़ाल कब हुआ? सीरत की किताबों में इसका जवाब नहीं मिलता। अनुमान है कि हज़रत उमर (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के आख़िरी ज़माने में या फिर हज़रत उसमान (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में किसी वक़्त उनका इन्तिक़ाल हुआ। हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) के एक बेटे हज़रत सुलैमान (रज़ि०) और एक बेटी थीं। दोनों को नबी (सल्ल०) को देखने और उनसे इल्म सीखने की ख़ुशनसीबी हासिल हुई है। बेटी मशहूर सहाबी हज़रत शुरहबील-बिन-हसना (रज़ि०) के निकाह में थीं।

हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) और हज़रत उमर (रज़ि०) से लगभग बारह हदीसें रिवायत की हैं। इनसे रिवायत करनेवालों में इनके बेटे सुलैमान (रज़ि०) और पोते अबू-बक्र और उसमान, उम्मुल-मोमिनीन हज़रत हफ़सा (रज़ि०), अबू-सलमा (रह०) और अबू-इसहाक़ (रह०) शामिल हैं।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल लुबाबतुल-कुबरा (रज़ि०)

सन् 2 हिजरी रमज़ान के महीने में बद्र की लड़ाई में क़ुरैश की ज़िल्लत भरी हार की ख़बर मक्का पहुँची तो वहाँ घर-घर में मातम छा गया। बदनसीब अबू-लहब की हालत तो देखी नहीं जाती थी। दुख और ग़म ने उसको इतना निढाल कर दिया कि चलते हुए

अपने वक़्त के सबसे बड़े हाकिम थे, लेकिन उन्होंने अपने ख़ानदान की एक बूढ़ी औरत की सख़्त बात का ज़रा भी बुरा न माना। इस रिवायत से यह पता चलता है कि हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) एक निडर और बेबाक ख़ातून थीं और दिल की बात, चाहे वह कितनी ही सख़्त क्यों न हो, साफ़-साफ़ कह देने से झिझकती नहीं थीं चाहे वह बात खलीफ़ा ही से क्यों न कहनी हो। यही इस्लामी समाज की वह समानता और सादा रहन-सहन था, जिसने कुछ ही सालों में मुसलमानों को लोकप्रियता और ख़ुशहाली की बुलन्दियों पर पहुँचा दिया।

क़दम लड़खड़ाते थे। इसी हालत में वह लड़ाई के हालात पूछने के लिए घिसटता-घिसटाता अपने भाई अब्बास-बिन-अब्दुल-मुत्तलिब के घर पहुँचा। वे उस ज़माने में मुशरिकों के साथ मुसलमानों से लड़ने गए थे और लड़ाई में हारने के बाद मुसलमानों के क़ैदी बन चुके थे। वह हज़रत अब्बास (रज़ि०) के घर जाकर उनके ग़ुलाम हज़रत अबू-राफ़े (रज़ि०) के पास बैठ गया, जो तीर बनाने में व्यस्त थे। उसी वक़्त किसी ने कहा कि अबू-सुफ़ियान-बिन-हारिस (जो कि नबी (सल्ल०) के चचेरे भाई और अबू-लहब के भतीजे थे, और जिन्होंने अभी इस्लाम क़बूल नहीं किया था) अभी-अभी बद्र से वापस आए हैं, उनसे लड़ाई के हालात मालूम करने चाहिएँ। अबू-लहब ने उन्हें आवाज़ दी, "भतीजे, ज़रा यहाँ मेरे पास तो आओ।" वे आए तो अबू-लहब ने पूछा, "भतीजे वहाँ का हाल तो बताओ।"

अबू-सुफ़ियान कहने लगे, "ख़ुदा की क़सम, मुसलमानों के सामने हमारी बेबसी का यह हाल था जैसे मुर्दा ग़ुस्ल देनेवाले के सामने बेबस होता है। उन्होंने जिसको चाहा क़त्ल कर दिया और जिसको चाहा क़ैद कर लिया। एक अजीब नज़ारा हम लोगों ने यह देखा कि चितकबरे घोड़ों पर सवार, सफ़ेद लिबास पहने हुए आदमियों ने मार-मारकर हमारा कचूमर निकाल दिया। पता नहीं वे कौन थे!"

अबू राफ़े ने फ़ौरन कहा, "वे फ़रिशते थे।" यह सुनकर अबू-लहब भड़क उठा और अबू-राफ़े (रज़ि०) के मुँह पर ज़ोर से एक थप्पड़ मार दिया। अबू-राफ़े (रज़ि०) भी सम्भलकर उससे गुत्थम-गुत्था हो गए। लेकिन वे कमज़ोर थे, अबू-लहब ने उन्हें ज़मीन पर पटक दिया और बेतहाशा पीटने लगा। क़रीब ही एक

ख़ातून बैठी थीं। उनसे यह ज़ुल्म देखा न गया। फ़ौरन उठीं और एक मोटा सा लठ लेकर इस ज़ोर से अबू-लहब को मारा कि उसके सिर से ख़ून का फ़व्वारा फूट पड़ा, फिर कड़ककर बोलीं,

"बेशर्म, इसका मालिक यहाँ मौजूद नहीं है और तू कमज़ोर समझकर इसको मारता है!"

अबू-लहब को इस ख़ातून से कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी और वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

ये ग़ैरतमन्द (स्वाभीमानी) और बहादुर ख़ातून जिन्होंने अबू-लहब जैसे अल्लाह के दुश्मन और इस्लाम के दुश्मन को सख़्त ज़िल्लत और अपमान सहने पर मजबूर कर दिया, हज़रत अब्बास (रज़ि०) की बीवी और अबू-लहब की भावज, हज़रत लुबाबतुल-कुबरा (रज़ि०) थीं।

कुछ रिवायतों में है कि यह घटना ज़मज़म के कुँए की चारदीवारी के अन्दर घटी, जिसके क़रीब ही हज़रत अब्बास (रज़ि०) का मकान था।

हज़रत लुबाबा-बिन्ते-हारिस (रज़ि०), जो अपनी कुन्नियत "उम्मे-फ़ज़्ल" से मशहूर हैं, बड़े ऊँचे मर्तबेवाली सहाबिया हैं। इनका लक़ब कुबरा है। इसलिए सीरत-निगारों ने इनका नाम लुबाबतुल-कुबरा भी लिखा है। इनका ताल्लुक़ बनू-हिलाल से था।

नसब का सिलसिला यह है : उम्मे-फ़ज़्ल लुबाबा-बिन्ते-हारिस-बिन-हज़्न-बिन-बुजैर-बिन-हरम-बिन-रुऐबा-बिन-अब्दुल्लाह-बिन-हिलाल-बिन-आमिर-बिन-सअसआ।

माँ का नाम हिन्द (या ख़ौला)-बिन्ते-औफ़ था। उनका ताल्लुक़ बनू-किनाना या बनू-हुमैर से था।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल लुबाबा (रज़ि०) की शादी नबी (सल्ल०) के चचा हज़रत अब्बास-बिन-अब्दुल-मुत्तलिब (रज़ि०) से हुई। इस रिश्ते से वे नबी (सल्ल०) की चची थीं। उनकी सगी बहन हज़रत मैमूना-बिन्ते-हारिस (रज़ि०) को उम्मेल-मोमिनीन बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस रिश्ते से उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) नबी (सल्ल०) की साली भी होती थीं।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) की एक माँ-शरीक बहन हज़रत असमा-बिन्ते-उमैस (रज़ि०) की शादी, नबी (सल्ल०) के चचेरे भाई, हज़रत जाफ़र-बिन-अबू-तालिब (रज़ि०) से हुई थी। एक तीसरी बहन सलमा (रज़ि०) की शादी नबी (सल्ल०) के दूसरे चचा हमज़ा-बिन-अब्दुल-मुत्तलिब से हुई।

लोग हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) की माँ हिन्द-बिन्ते-औफ़ पर रश्क करते थे कि समधियाने के लिहाज़ से कोई औरत उनके बराबर नहीं थी।

औरतों में सबसे पहले हज़रत ख़दीजा (रज़ि०) ईमान लाईं। रिवायतों से पता चलता है कि उसके बाद ईमान की इस दौलत को हासिल करनेवाली ख़ातून हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल लुबाबा (रज़ि०) थीं। इस तरह वे "साबिक़ूनल-अव्वलून' (यानी बिलकुल शुरू में ईमान लानेवाले) की पाकीज़ा जमाअत में बहुत ऊँचा दर्जा रखती हैं। हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) ने अपने शौहर हज़रत अब्बास (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने के एलान के बाद मदीना की तरफ़ हिजरत की। यह हिजरत मक्का पर जीत हासिल होने से कुछ अरसा पहले हुई।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) बड़ी बहादुर और ग़ैरतमन्द औरत थीं। एक बार उन्होंने अबू-लहब को लाठी मारकर उसका सिर फ़ोड़

दिया था। (यह वाक़िया ऊपर बयान किया जा चुका है।) उन्हें नबी (सल्ल०) से बड़ी मुहब्बत और अक़ीदत थी। नबी (सल्ल०) को भी चची से बड़ा लगाव था। आप (सल्ल०) अक्सर उनके घर तशरीफ़ ले जाते। अगर दोपहर का वक़्त होता तो वहीं आराम फ़रमाते। हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) नबी (सल्ल०) का मुबारक सिर अपनी गोद में रखकर आप (सल्ल०) के बालों से धूल या तिनके वग़ैरह साफ़ करतीं और उनमें कंघी करतीं।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) बड़ी परहेज़गार और इबादतगुज़ार थीं, कुछ रिवायतों में है कि वे हर सोमवार और जुमेरात के दिन रोज़े रखती थीं। अल्लामा इब्ने-अब्दुल-बर (रह०) का बयान है कि नबी (सल्ल०) फ़रमाया करते थे कि उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०), मैमूना (रज़ि०), सलमा (रज़ि०) और असमा (रज़ि०) चारों ईमानवाली बहनें हैं।

एक बार उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) ने ख़ाब देखा कि नबी (सल्ल०) के मुबारक जिस्म का कोई हिस्सा उनके घर में है। उन्होंने अपना ख़ाब नबी (सल्ल०) से बयान किया तो आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "इसकी ताबीर यह मालूम होती है कि मेरी बेटी फ़ातिमा के यहाँ बेटा पैदा होगा और तुम उसे अपना दूध पिलाओगी।"

कुछ दिनों के बाद हज़रत फ़ातिमा (रज़ि०) के बेटे हज़रत हुसैन (रज़ि०) पैदा हुए। हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) ने उन्हें अपना दूध पिलाया और उनकी देखभाल करने लगीं। इसलिए नबी (सल्ल०) का सारा ख़ानदान हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) का बहुत एहतिराम करता था।

एक दिन हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) हज़रत हुसैन (रज़ि०) को गोद में लिए नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर हुईं। आप

(सल्ल०) ने अपने प्यारे नवासे को उनकी गोद से ले लिया और प्यार करने लगे। नन्हे हुसैन (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) की गोद में पेशाब कर दिया। हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) ने उन्हें फ़ौरन नबी (सल्ल०) की गोद से ले लिया और झिड़ककर बोलीं—

"अरे नन्हे तूने यह क्या किया! अल्लाह के रसूल की गोद में पेशाब कर दिया!"

नबी (सल्ल०) को उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) का इतना झिड़कना भी गवारा नहीं हुआ और आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "उम्मे-फ़ज़्ल! तुमने मेरे बच्चे को यूँही झिड़का, जिससे मुझे तकलीफ़ हुई।" इसके बाद नबी (सल्ल०) ने पानी मँगवाकर कपड़े का वह हिस्सा जहाँ पेशाब था, धुलवा दिया।

"हज्जतुल वदाअ्" (अल्लाह के रसूल का आख़िरी हज) के मौक़े पर हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) को नबी (सल्ल०) के साथ हज करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बुख़ारी में है कि अरफ़ा के दिन कुछ लोगों का ख़याल था कि नबी (सल्ल०) ने रोज़ा रखा हुआ है। जब हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) को उन लोगों का यह ख़याल मालूम हुआ तो उन्होंने एक प्याला दूध नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में भेजा। आप (सल्ल०) ने दूध पी लिया, इससे लोगों का शक दूर हो गया।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) का इन्तिक़ाल हज़रत उसमान (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में उनके शौहर हज़रत अब्बास की ज़िन्दगी में ही हुआ। जनाज़े की नमाज़ हज़रत उसमान (रज़ि०) ने पढ़ाई ।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल की कोख से हज़रत अब्बास (रज़ि०) के सात बच्चे हुए। छः बेटे—फ़ज़्ल (रज़ि०), अब्दुल्लाह (रज़ि०),

उबैदुल्लाह (रज़ि०) माबद (रज़ि०), क़ुसुम (रज़ि०), अब्दुर्रहमान (रज़ि०) और एक बेटी उम्मे-हबीबा।

सीरत-निगारों ने लिखा है कि उनके सारे बच्चे बड़े क़ाबिल थे। हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि०) और हज़रत उबैदुल्लाह (रज़ि०) ने इल्म व फ़ज़्ल में बड़ा बुलन्द मर्तबा हासिल किया।

हज़रत उम्मे-फ़ज़्ल (रज़ि०) से तीस हदीसें रिवायत की गई हैं। इनसे रिवायत करनेवालों में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि०) और उनके दूसरे भाई और हज़रत अनस-बिन-मालिक (रज़ि०) जैसे बुलन्द मर्तबा सहाबी शामिल हैं।

हज़रत उम्मे-शरीक दौसिया (रज़ि०)

हज़रत उम्मे-शरीक दौसिया (रज़ि०) की गिनती बुलन्द मर्तबा सहाबियात में होती है। लेकिन ताज्जुब है कि इतनी मशहूर सहाबिया होने के बावजूद उनकी निजी और घरेलू ज़िन्दगी के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है।

सीरत-निगारों ने उनका असली नाम और नसब का सिलसिला बयान नहीं किया है, सिर्फ़ यह लिखा है कि उनका ताल्लुक़ दौस क़बीले से था। यह क़बीला यमन के एक कोने में आबाद था। यह मालूम नहीं है कि उम्मे-शरीक दौसिया (रज़ि०) कब और किस सिलसिले में मक्का आई थीं। लेकिन सीरत-निगारों के बयान के मुताबिक़ जब नबी (सल्ल०) ने इस्लाम की दावत देनी शुरू की तो वे मक्का में ही रहती थीं। अल्लाह ने उन्हें नेक तबीअत दी थी। उन्होंने बिना किसी झिझक के तौहीद यानी एक अल्लाह की बन्दगी क़बूल कर ली, और 'साबिक़ूनल-अव्वलून' की पाकीज़ा जमाअत में शामिल हो गईं।

अल्लामा इब्ने-साद (रह०) का बयान है कि हज़रत उम्मे-शरीक (रज़ि०) ने इस्लाम क़बूल किया तो उनके मुशरिक रिश्तेदारों ने उन्हें धूप में खड़ा कर दिया। वे लोग इस हालत में उनको शहद के साथ रोटी खिलाते थे जिसकी तासीर बहुत गर्म होती है। पानी पिलाना भी बन्द कर दिया। जब इसी तरह तीन दिन गुज़र गए तो मुशरिकों ने कहा कि तुमने जिस दीन को इख़्तियार कर लिया है, उसे छोड़ दो। वे तीन दिन तक लगातार इस ज़ुल्म को सहते-सहते बदहवास हो गई थीं, मुशरिकों की बात का मतलब न समझ सकीं। जब उन लोगों ने आसमान की तरफ़ इशारा किया तो वे समझ गईं कि ये लोग मुझसे एक अल्लाह की बन्दगी छोड़ने को कह रहे हैं। फ़ौरन बोल उठीं—

"ख़ुदा की क़सम! मैं तो उसी अक़ीदे पर क़ायम हूँ।"

हज़रत उम्मे-शरीक (रज़ि०) इस्लाम क़बूल करने के बाद ख़ामोश नहीं बैठीं, बल्कि बड़े जोश से क़ुरैश की औरतों को इस्लाम की दावत देने लगीं।

अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) का बयान है कि उम्मे-शरीक (रज़ि०) क़ुरैश की औरतों को इस्लाम की दावत देती थीं। क़ुरैश के मुशरिकों को उनकी छुप-छुपकर की जानेवाली कोशिशों का पता चला तो उन्हें मक्का से निकाल दिया।

उम्मे-शरीक (रज़ि०) ने हिजरत कब की, सीरत-निगारों ने इसकी चर्चा नहीं की है, लेकिन यह बात साबित है कि उन्होंने हिजरत की और फिर मदीना में ही अपनी ज़िन्दगी गुज़ारी।

नसई में है कि हज़रत उम्मे-शरीक (रज़ि०) मालदार और खुले दिल से ख़र्च करनेवाली सहाबिया थीं। वे लोगों को दिल खोलकर खाना खिलाया करती थीं। उन्होंने अपने मकान को मेहमानों के

लिए आम बना दिया था इसलिए नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में बाहर से आनेवाले मेहमान उनके घर ही ठहरा करते थे।

मुस्लिम की एक रिवायत से मालूम होता है कि हिजरत से पहले मक्का में भी उम्मे-शरीक (रज़ि०) नव-मुस्लिमों का ख़र्च उठाया करती थीं। इब्ने-साद लिखते हैं कि सन् 10 हिजरी में मशहूर सहाबिया हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-क़ैस (रज़ि०) को उनके शौहर अबू-अम्र हफ़्स-बिन-मुग़ीरा (रज़ि०) ने तलाक़ दे दी तो नबी (सल्ल०) ने उन्हें हुक्म दिया कि वे इद्दत (तलाक़ पाने के बाद तीन महीने की मुद्दत जिसमें तलाक़शुदा औरत दूसरा निकाह नहीं कर सकती) का ज़माना उम्मे-शरीक (रज़ि०) के यहाँ गुज़ारें, फिर बाद में नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया, "उम्मे-शरीक के यहाँ मेहमान हमेशा आते-जाते रहते हैं और उनके रिश्तेदार भी उनके साथ रहते हैं, इसलिए वहाँ परदे का एहतिमाम नहीं हो सकेगा। इसलिए तुम अपनी इद्दत के दिन अंधे चचेरे भाई इब्ने-उम्मे-मक्तूम (रज़ि०) के यहाँ गुज़ारो।"

हज़रत उम्मे-शरीक (रज़ि०) को नबी (सल्ल०) से बड़ी मुहब्बत और अक़ीदत थी।

अल्लामा इब्ने-साद का बयान है कि उनके पास एक कुप्पी में घी था, जो कभी ख़त्म ही नहीं होता था। उसमें से वे अपने बच्चों को भी दिया करती थीं। एक दिन उन्होंने कुप्पी उलटकर यह देखना चाहा कि इसमें कितना घी बाक़ी रह गया है। बस, उसी दिन से वह कुप्पी ख़ाली हो गई। हज़रत उम्मे-शरीक (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर होकर यह वाक़िआ सुनाया तो आप (सल्ल०) ने फ़रमाया, "अगर तुम इस कुप्पी को न उलटतीं तो उसमें घी एक मुद्दत तक बाक़ी रहता।"

हज़रत उम्मे-शरीक (रज़ि०) के इन्तिक़ाल का साल और दूसरे हालात सीरत की किताबों में नहीं मिलते।

हज़रत सअ्बा-बिन्ते-हज़रमी (रज़ि०)

हज़रत सअ्बा-बिन्ते-हज़रमी (रज़ि०) वे ख़ुशनसीब सहाबिया हैं जिनके बेटे हज़रत तलहा-बिन-उबैदुल्लाह (रज़ि०) उन दस ख़ुशक़िस्मत, पाकीज़ा हस्तियों में से एक हैं जिन्हें नबी (सल्ल०) ने उनकी ज़िन्दगी ही में जन्नत की ख़ुशख़बरी सुना दी थी।

नसब का सिलसिला यह है : सअ्बा-बिन्ते-अब्दुल्लाह हज़रमी-बिन-ज़िमाद-बिन-सलमा-बिन-अकबर।

हज़रत सअ्बा यमन की रहनेवाली थीं और उनका ताल्लुक़ हज़रमी नस्ल से था। उनके बाप हर्ब-बिन-उमैया के साथी बनकर मक्का में बस गए थे। उन्होंने इस्लाम के बिलकुल शुरू के ज़माने में अपने बेटे के साथ ईमान क़बूल कर लिया था। उस वक़्त उनके शौहर उबैदुल्लाह-बिन-उसमान का इन्तिक़ाल हो चुका था। कुछ साल के बाद वे अपने बेटे के साथ हिजरत करके मदीना चली गईं।

हज़रत सअ्बा (रज़ि०) ने लम्बी उम्र पाई। इमाम बुख़ारी (रह०) ने तारीख़ुस-सग़ीर में बयान किया है कि वे तीसरे ख़लीफ़ा हज़रत उसमान (रज़ि०) के क़ैद होने के ज़माने तक ज़िन्दा थीं। जब उनको अमीरुल-मोमिनीन के क़ैद होने की ख़बर मिली तो वे बेताब होकर घर से निकलीं और अपने बेटे हज़रत तलहा (रज़ि०) से कहा कि वे अपनी जान-पहचान और पहुँच से काम लेकर हज़रत उसमान (रज़ि०) के दुश्मनों को वहाँ से हटा दें। अनुमान है कि हज़रत सअ्बा (रज़ि०) ने अस्सी साल से ज़्यादा उम्र पाई। मशहूर सहाबी हज़रत अला-बिन-हज़रमी (रज़ि०) उनके भाई थे।

हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-औफ़ (रज़ि०)

हज़रत शिफ़ा-बिन्ते-औफ़ (रज़ि०) का ताल्लुक़ बनू-ज़ुहरा से था। नसब का सिलसिला यह है : शिफ़ा-बिन्ते-औफ़-बिन-अब्द-बिन-हारिस-बिन-ज़ुहरा।

इनकी शादी इनके रिशतेदार औफ़-बिन-अब्दे-जौफ़ ज़ुहरी से हुई।

उनके बेटे हज़रत अब्दुर्रहमान-बिन-औफ़ (रज़ि०) "असहाबे-अशरा-ए-मुबश्शरा" (वे दस ख़ुशनसीब सहाबी जिन्हें नबी (सल्ल०) ने उनकी ज़िन्दगी में ही जन्नत की ख़ुशख़बरी सुनाई) में से एक थे।

हज़रत शिफ़ा (रज़ि०) ने नुबूवत के शुरू के तीन सालों में किसी वक़्त इस्लाम क़बूल किया। इस तरह वे "साबिक़ूनल-अव्वलून" में भी एक बुलन्द दर्जा रखती हैं।

एक रिवायत से पता चलता है कि नबी (सल्ल०) की पैदाइश के वक़्त कुछ दूसरी औरतों के अलावा वे भी बीबी आमिना के पास मौजूद थीं। उनकी ज़िन्दगी के इससे ज़्यादा हालात किसी किताब में नहीं मिलते।

हज़रत रमला-बिन्ते-अबू-औफ़ सहमीया (रज़ि०)

हज़रत रमला-बिन्ते-अबू-औफ़ (रज़ि०) का ताल्लुक़ बनू-सह्म से था। इनकी शादी हज़रत अब्दुर्रहमान-बिन-औफ़ (रज़ि०) के चचेरे भाई हज़रत मुत्तलिब-बिन-अज़हर ज़ुहरी (रज़ि०) से हुई। दोनों मियाँ-बीवी इस्लाम के शुरू के सालों में ही ईमान ले आए। सन् 6 नबवी में हबशा की दूसरी हिजरत के वक़्त रमला (रज़ि०) और

उनके शौहर ने अल्लाह के दीन की ख़ातिर अपना घर-बार छोड़ दिया और हबशा में परदेसी बनकर ज़िन्दगी गुज़ारने लगे। वहीं उनके बेटे अब्दुल्लाह-बिन-मुत्तलिब पैदा हुए।

हज़रत मुत्तलिब-बिन-अज़हर का इन्तिक़ाल हबशा में ही हो गया। इस तरह हज़रत रमला (रज़ि०) पर परदेस की कठिन ज़िन्दगी के साथ-साथ बेवगी (विधवा होने) की मुसीबत भी आ पड़ी। लेकिन वे बड़े सब्र और हिम्मत से अपने दिन गुज़ारती रहीं। ख़ैबर की लड़ाई के मौक़े पर अपने बेटे अब्दुल्लाह और सत्तावन (57) दूसरे मुहाजिरों के साथ वे हबशा से मदीना आ गईं। फिर उन्होंने बाक़ी ज़िन्दगी मदीना में ही गुज़ारी।

इनकी ज़िन्दगी के बस इतने ही हालात मालूम हैं।

हज़रत ज़िन्नीरा रूमिया (रज़ि०)

हज़रत ज़िन्नीरा (रज़ि०) क़ुरैश के बनू-मख़तूम ख़ानदान की कनीज़ (दासी) थीं। इन्होंने इस्लाम की दावत बिलकुल शुरू के ज़माने में क़बूल कर ली थी और इस 'जुर्म' की वजह से मुशरिक उन्हें ज़ुल्म व सितम का निशाना बनाते थे। अबू-जहल उनपर नए-नए ज़ुल्म ढाता और उन्हें शिर्क पर मजबूर करता था। हज़रत ज़िन्नीरा (रज़ि०) जान देने को तो तैयार थीं लेकिन एक अल्लाह की बन्दगी से मुँह मोड़ना उनके बस से बाहर था।

अल्लामा बलाज़री (रह०) का बयान है कि अल्लाह के दीन की ख़ातिर ज़ुल्म व सितम झेलते-झेलते उनकी आँखों की रौशनी चली गई तो अबू-जहल ने उन्हें ताना दिया कि लात और उज़्ज़ा (दो मूर्तियाँ जिनकी मक्का के मुशरिक पूजा करते थे) ने तुझे अन्धा कर दिया।

उन्होंने बेधड़क जवाब दिया, "लात और उज़्ज़ा पत्थर की

मूर्तियाँ हैं, उन्हें क्या ख़बर कि कौन उन्हें पूज रहा है और कौन नहीं पूज रहा है? अगर मेरी आँखों की रौशनी चली गई तो वह अल्लाह की तरफ़ से है, अगर वह चाहे तो मेरी इन आँखों की रौशनी लौट सकती है।"

अल्लाह को उनका यह मज़बूत ईमान और साबित-क़दमी इतनी ज़्यादा पसन्द आई कि दूसरे दिन जब वे सोकर उठीं तो उनकी आँखों की रौशनी वापस आ गई थी।

इब्ने-हिशाम ने यह रिवायत दूसरे अन्दाज़ में लिखी है। उनका बयान है कि हज़रत ज़िन्नीरा उन बेसहारा लोगों में से थीं, जिनपर मक्का के मुशरिक ज़ुल्म व सितम ढाते थे, फिर बाद में उन्हें हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने ख़रीदकर आज़ाद कर दिया था। अल्लाह की क़ुदरत का करना यह हुआ कि आज़ादी मिलने के बाद उनकी आखों की रौशनी चली गई। यह देखकर मुशरिक कहने लगे कि ज़िन्नीरा को लात और उज़्ज़ा ने अन्धा कर दिया। जब उन्होंने यह बातें सुनीं तो कहा—

"अल्लाह के घर की क़सम! ये लोग झूठे हैं, लात और उज़्ज़ा न किसी को नुक़सान पहुँचा सकते हैं, न नफ़ा।"

इसके बाद अल्लाह के हुक्म से उनकी आँखों की रौशनी वापस आ गई।

इब्ने-असीर (रह०) के बयान के मुताबिक़ हज़रत ज़िन्नीरा (रज़ि०) बनू-अदी की कनीज़ (दासी) थीं और हज़रत उमर (रज़ि०) इस्लाम क़बूल करने से पहले उनपर ज़ुल्म ढाया करते थे।

इब्ने-हिशाम ने लिखा है कि उन्हें हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने ख़रीदकर आज़ाद कर दिया था।

कुछ रिवायतों में उनका नाम ज़म्बराह भी आया है।

हज़रत लबीना (रज़ि०)

हज़रत लबीना (रज़ि०) क़ुरैश के बनू-अदी ख़ानदान की एक शाख़ बनू-मुअम्मिल की कनीज़ (दासी) थीं। नुबूवत के बाद शुरू के दिनों में ही उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया था। इसपर हज़रत उमर (रज़ि०), जो अभी ईमान नहीं लाए थे, इतना नाराज़ हुए कि रोज़ उन्हें मारा-पीटा करते थे और जब मारते-मारते थक जाते तो कहते, "मैं थक गया हूँ इसलिए तुझे छोड़ा है, अब भी इस नए दीन इस्लाम को छोड़ दे।"

वे जवाब में कहतीं, "कभी नहीं, तू जितना ज़ुल्म ढा सकता है, ढा ले, मैं यही कहूँगी। अल्लाह तुम्हारे साथ भी ऐसा ही करे!"

आख़िरकार हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उन्हें ख़रीदकर आज़ाद कर दिया। कुछ सीरत-निगारों ने उनका नाम लबीबा लिखा है और उनके मालिक का नाम मुअम्मिल-बिन-हबीब बताया है।

हज़रत उम्मे-उबैस (रज़ि०)

बलाज़री (रह०) के बयान के मुताबिक़ उम्मे-उबैस (रज़ि०) क़ुरैश के ख़ानदान बनू-ज़ुहरा की कनीज़ (दासी) थीं। इस्लाम की दावत पर ईमान क़बूल करनेवाले शुरू के मुसलमानों में से एक थीं। इस्लाम क़बूल करने के जुर्म में मक्का का मशहूर मुशरिक रईस, जिसका नाम असवद-बिन-अब्दे-यग़ूस था, इनपर ज़ुल्म और सितम के पहाड़ तोड़ता था, लेकिन ये किसी तरह भी अल्लाह के दीन को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थीं। फिर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उन्हें ख़रीदकर आज़ाद कर दिया।

ज़ुबैर-बिन-बक्कार का बयान है कि वे बनू-तैम-बिन-मुर्रा की कनीज़ (दासी) थीं।

हज़रत हुमामा (रज़ि०)

हज़रत हुमामा (रज़ि०) मशहूर सहाबी हज़रत बिलाल हबशी (रज़ि०) की माँ थीं। हाफ़िज़ इब्ने-अब्दुल-बर्र (रह०) का बयान है कि वे भी अपने बेटे की तरह इस्लाम के बिलकुल शुरू के ज़माने में ईमान ले आई थीं। मुशरिकों ने जिस तरह इनके बेटे को ज़ुल्म और सितम का निशाना बनाया, उसी तरह इन्हें भी तरह-तरह की तकलीफ़ें दीं, लेकिन वे इस्लाम पर साबित-क़दमी से जमी रहीं। माँ और बेटे दोनों को हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने ख़रीदकर आज़ाद कर दिया।

हज़रत नहदीया (रज़ि०) और उनकी बेटी

ये दोनों नेक औरतें बनू-अब्दुद-दार की एक औरत की कनीज़ (दासियाँ) थीं। नुबूवत के शुरू के ज़माने में दोनों ने इस्लाम क़बूल कर लिया था। इसलिए उनकी मालिका ने उनपर बड़े सख़्त ज़ुल्म ढाए। बाद में हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उन्हें ख़रीदकर आज़ाद कर दिया।

हज़रत उम्मे-माबद ख़ुज़ाइया (रज़ि०)

जिस ज़माने में इस्लाम का सूरज फ़ारान नामी पहाड़ की चोटियों से निकल रहा था, उसी ज़माने में मक्का से मदीना जानेवाले रास्ते पर क़ुदैद नाम की एक छोटी-सी बस्ती रेगिस्तान के पास आबाद थी। उस बस्ती में एक छोटा-सा ग़रीब परिवार अपनी ज़िन्दगी के दिन बड़े अनोखे अंदाज़ से गुज़ार रहा था। उस घराने की सारी दौलत कुल मिलाकर एक ख़ेमा, बकरियों का एक रेवड़, गिनती के कुछ बरतन और मशकीज़े थी।

परिवार का मुखिया एक मेहनती बद्दू तमीम-बिन-अब्दुल-उज़्ज़ा ख़ुज़ाई था। उसका ज़्यादातर वक़्त बकरियाँ चराने में गुज़रता था। तमीम की बीवी उसकी चचेरी बहन आतिका-बिन्ते-ख़ालिद-बिन-ख़लीफ़-बिन-मुंक़िज़-बिन-रबीआ-बिन-अहरम-बिन-ख़ुबैस-बिन-हराम-बिन-जैसीया-बिन-सलूल-बिन-काब-बिन-अम्र थी। दोनों बनू-ख़ुज़ाआ के ही बनू-काब ख़ानदान से ताल्लुक़ रखते थे।

आतिका एक पाक दामन, बाइज़्ज़त और बुलन्द हौसलेवाली ख़ातून थीं और अपनी कुन्नियत "उम्मे-माबद" से मशहूर थीं। अरबों की रिवायती मेहमानदारी की ख़ूबी उनमें मौजूद थी। दूसरों के काम आने और उनकी मदद करने की भावना अल्लाह ने उनके दिल में कूट-कूटकर भर दी थी। ग़रीबी और तंगदस्ती के बावजूद क़ुदैद से गुज़रनेवाले मुसाफ़िरों की मेहमानदारी ख़ुशी से करतीं और उनकी ख़िदमत और ख़ातिरदारी में कोई कसर नहीं उठा रखती थीं। पानी, दूध, खजूर, गोश्त जो कुछ पास होता, मेहमानों की ख़िदमत में पेश कर देती थीं। जब कोई मुसाफ़िर उनके ख़ेमे में ठहरकर आगे के लिए चलता तो उसकी ज़बान पर उम्मे-माबद की तारीफ़ें और उनके लिए दुआएँ होतीं। इस तरह उम्मे-माबद का नाम मुसाफ़िरों की ख़ातिरदारी और ख़िदमत की वजह से दूर-दूर तक मशहूर हो गया था और लोग उनकी शराफ़त और नेकी की तारीफ़ें करते नहीं थकते थे।

नुबूवत के तेरहवें साल तक उम्मे-माबद को मुसाफ़िरों की ख़िदमत करते-करते न जाने कितने साल गुज़र चुके थे और वे जवानी की मंज़िलों से गुज़रकर अधेड़ उम्र को पहुँच चुकी थीं। उस ज़माने में नबी (सल्ल०) अरब के बद्दुओं में 'साहिबे-क़ुरैश' के लक़ब से मशहूर थे। तमीम और उम्मे-माबद के कानों में भी

'साहिबे-क़ुरैश' और आप (सल्ल०) की दावत की भनक पड़ चुकी थी, लेकिन उनकी ज़िन्दगी अपनी डगर पर चली जा रही थी। इन ग़रीब और सीधे-सादे बद्दुओं के लिए यह बड़ा मुश्किल काम था कि ऐसी बातों की छान-बीन के लिए दूर-दूर का सफ़र करें। लेकिन उन्हें क्या पता था कि एक दिन उनकी रेगिस्तानी कुटिया उन साहिबे-क़ुरैश के तशरीफ़ लाने से जगमगा उठेगी और ज़मीन और आसमान के कण-कण उनकी ख़ुशनसीबी पर रश्क करेंगे।

सन् 13 नबवी, रबीउल-अव्वल के महीने में नबी (सल्ल०) ने मक्का को अलविदा कहा और तीन रातें सौर की गुफा में गुज़ारकर मदीना की तरफ़ चल पड़े। उस वक़्त हज़रत अबू-बक्र और हज़रत आमिर-बिन-फ़ुहैरा (रज़ि०) नबी (सल्ल०) के साथ थे। आप (सल्ल०) एक ऊँटनी पर सवार थे और वे दोनों दूसरी ऊँटनी पर। इस पाकीज़ा क़ाफ़िले के आगे-आगे अब्दुल्लाह-बिन-उरैक़ित पैदल चल रहा था। उसने इस्लाम क़बूल नहीं किया था, फिर भी आदमी भरोसे के क़ाबिल था और मक्का से मदीना जानेवाले तमाम रास्तों को जानता था। इसलिए नबी (सल्ल०) ने उसे रास्ता बताने के लिए मज़दूरी पर अपने साथ रख लिया था।

एक दूसरी रिवायत में है कि एक साँडनी पर नबी (सल्ल०) और हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) सवार थे और दूसरी पर आमिर-बिन-फ़ुहैरा (रज़ि०) और अब्दुल्लाह-बिन-उरैक़ित।

यह छोटा-सा क़ाफिला जब क़ुदैद नाम की जगह पर पहुँचा तो उस वक़्त तक हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र (रज़ि०) ने गुफा से चलते वक़्त जो खाना-पीना साथ दिया था, सब ख़त्म हो चुका था। नबी (सल्ल०) और आपके साथियों को भूख-प्यास महसूस हो रही थी। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने उम्मे-माबद का नाम सुन रखा था

और उन्हें यक़ीन था कि उनके यहाँ खाने-पीने का कुछ इन्तिज़ाम हो जाएगा। इसलिए यह पाकीज़ा क़ाफ़िला उम्मे-माबद के ख़ेमे पर जाकर रुका। वे उस वक़्त अपने ख़ेमे के आगे आँगन में बैठी थीं। उन दिनों सूखे ने सारे इलाक़े का बुरा हाल कर रखा था और इसका असर उम्मे-माबद के घर पर भी पड़ा था। बड़ी तंगी और मुश्किल से गुज़र हो रही थी।

नबी (सल्ल०) ने उम्मे-माबद से फ़रमाया, “दूध, गोश्त, खजूरें, खाने की कोई चीज़ भी तुम्हारे पास हो तो हमें दो हम उसकी क़ीमत अदा कर देंगे।”

उम्मे-माबद ने बड़े अफ़सोस से जवाब दिया, “खुदा की क़सम, इस वक़्त कोई चीज़ हमारे घर में आपको पेश करने के लिए नहीं है, अगर होती तो मैं फ़ौरन हाज़िर कर देती।”

इतने में नबी (सल्ल०) की नज़र एक मरियल सी बकरी पर पड़ी, जो ख़ेमे में एक तरफ़ खड़ी थी। आप (सल्ल०) ने फ़रमाया—

“माबद की माँ, अगर इजाज़त हो तो इस बकरी का दूध दूह लें।”

उम्मे-माबद ने कहा, “आप बड़े शौक़ से दूह लें, मगर मुझे उम्मीद नहीं है कि यह दूध की एक बूँद भी दे।”

अब वह बकरी नबी (सल्ल०) के सामने लाई गई। आप (सल्ल०) ने पहले उसके पैर बाँधे और फिर उसकी पीठ पर हाथ फेरकर दुआ की, “ऐ अल्लाह, इस औरत की बकरियों में बरकत दे!”

इसके बाद ज़मीन व आसमान ने हैरान कर देनेवाला नज़ारा देखा। नबी (सल्ल०) ने जैसे ही “बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम” पढ़कर

बकरी के थनों को छुआ, थन दूध से भर गए और बकरी टाँगें फैलाकर खड़ी हो गई। नबी (सल्ल०) ने एक बड़ा बरतन मँगाकर दूध दूहना शुरू कर दिया। यह बरतन जल्द ही लबालब भर गया। आप (सल्ल०) ने पहले यह दूध उम्मे-माबद को पिलाया, उन्होंने जी भरकर पिया। फिर आप (सल्ल०) ने अपने साथियों को पिलाया, जब उन्होंने भी जी भरकर पी लिया तो आख़िर में आप (सल्ल०) ने ख़ुद पिया और फ़रमाया, "लोगों को पिलानेवाला ख़ुद आख़िर में पीता है।"

इसके बाद नबी (सल्ल०) ने दोबारा दूध दूहना शुरू किया और बरतन फिर दूध से लबालब भर गया। यह दूध नबी (सल्ल०) ने उम्मे-माबद के लिए छोड़ दिया और आगे चल पड़े।

उम्मे-माबद (रज़ि०) का बयान है कि जिस बकरी का दूध नबी (सल्ल०) ने दूहा था वह हज़रत उमर (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने तक हमारे पास रही। हम सुबह-शाम उसका दूध दूहते थे और अपनी ज़रूरतें पूरी करते थे।

इब्ने-साद की एक रिवायत के मुताबिक़ इस मौक़े पर उम्मे-माबद (रज़ि०) ने एक बकरी ज़िब्ह करके नबी (सल्ल०) और आपके साथियों को खाना खिलाया और नाश्ता भी साथ कर दिया। लेकिन दूसरे सीरत-निगारों ने बकरी ज़िब्ह करने की चर्चा नहीं की है।

नबी (सल्ल०) के तशरीफ़ ले जाने के थोड़ी देर बाद ही उम्मे-माबद (रज़ि०) का शौहर बकरियों के रेवड़ को लेकर जंगल से वापस आया। ख़ेमे में दूध से भरा बरतन देखकर हैरान हो गया और पूछने लगा, "माबद की माँ, यह दूध का बरतन कहाँ से आया?"

उम्मे-माबद ने जवाब दिया, "ख़ुदा की क़सम! आज एक बड़ी बरकतवाला मेहमान यहाँ आया। उसने बकरी को दूहा, ख़ुद भी अपने साथियों समेत दूध पिया और हमारे लिए भी छोड़ गया।"

फिर उसने शुरू से आख़िर तक पूरी बात बताई।

अबू-माबद तमीम ने कहा, "ज़रा उसका रूप-रंग तो बयान करो।"

उम्मे-माबद (रज़ि०) ने नबी (सल्ल०) की जो तस्वीर अपने अल्फ़ाज़ में खींची तारीख़ के पन्नों ने उसे महफ़ूज़ कर लिया है।

उन्होंने कहा, "पाकीज़ा सूरत, हसीन-जमील रौशन चेहरा, जिस्म न मोटा न दुबला, अंग सुडौल, ख़ूबसूरत आँखें, बाल घने और लम्बे, सीधी गर्दन, आँखों की पुतलियाँ रौशन, काली आँखें, भवें बारीक और आपस में मिली हुई, काले घुंघराले बाल, ख़ामोश होता तो वक़ार झलकता, बोलता तो बातें दिल में उतरनेवाली होतीं, दूर से देखने में बड़ा सुन्दर और सजीला, क़रीब से निहायत ख़ूबसूरत और प्यारा, बातें मीठी, शब्द स्पष्ट, बातों में शब्दों की कमी-बेशी नहीं, सारी बातें मोतियों की लड़ी जैसे पिरोई हुई (यानी मुसलसल और मुनासिब), औसत क़द, न इतना ठिगना कि छोटा नज़र आए, न इतना लम्बा कि आँखों को देखने में उलझन हो, छोटे पौधे की हरी-भरी शाख़ की तरह आँखों को अच्छा लगनेवाला, बुलन्द मर्तबेवाला, साथी ऐसे कि हर वक़्त आसपास रहते हैं, जब वह कुछ कहता है तो बड़े ध्यान से सुनते हैं और जब वह हुक्म देता है तो उसे पूरा करने के लिए लपकते हैं, ऐसा प्रिय आक़ा (स्वामी) जिसका हुक्म माना जाता है, बहुत प्यारा, न अधूरी बात करनेवाला ना ज़रूरत से ज़्यादा बोलनेवाला।"

अबू-माबद ये ख़ूबियाँ सुनकर बोल उठे कि ख़ुदा की क़सम यह

तो वही साहिबे-क़ुरैश था जिसकी चर्चा हम सुनते रहते हैं। मैं उससे ज़रूर जाकर मिलूँगा।

हज़रत उम्मे-माबद (रज़ि०) के इस्लाम क़बूल करने के ताल्लुक़ से दो अलग-अलग रिवायतें पाई जाती हैं।

एक रिवायत यह है कि उनके कानों में "साहिबे-क़ुरैश" की भनक पहले ही पड़ चुकी थी, इसलिए जैसे ही उनकी नज़र नबी (सल्ल०) के रौशन चेहरे पर पड़ी तो उनके दिल ने गवाही दी कि ये वही साहिबे-क़ुरैश हैं जो एक अल्लाह की बन्दगी की दावत देनेवाले हैं और नेकी व हिदायत का स्रोत हैं। बकरीवाली घटना देखकर तो उन्हें पक्का यक़ीन हो गया कि ये मुबारक मेहमान अल्लाह के सच्चे रसूल ही हैं। बस, वे उसी वक़्त दिल से मुसलमान हो गईं और नबी (सल्ल०) ने उनके लिए भलाई और बरकत की दुआ माँगी।

दूसरी रिवायत यह है कि नबी (सल्ल०) के मदीना तशरीफ़ ले जाने के बाद अबू-माबद (रज़ि०) और उम्मे-माबद (रज़ि०) हिजरत करके मदीना पहुँचे और नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर होकर ईमान ले आए।

हज़रत उम्मे-माबद (रज़ि०) की ज़िन्दगी के और हालात तारीख़ की किताबों में नहीं मिलते। लेकिन उनकी ज़िन्दगी के एक ही वाक़िए ने, जो ऊपर बयान हुआ है, उन्हें ऐसी नामवरी और ऐसा बुलन्द मक़ाम दिला दिया है कि क़ियामत तक पैदा होनेवाले मुसलमान उसपर रश्क करते रहेंगे।

हज़रत ख़नसा-बिन्ते-अम्र (रज़ि०)

हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि०) की ख़िलाफ़त के ज़माने में 'क़ादसीया' की लड़ाई की गिनती इराक़ (इराक़ का वह इलाक़ा जो

उस ज़माने में अरब में था) के मैदान में लड़ी जानेवाली सबसे भयंकर और फ़ैसला चुका देनेवाली लड़ाइयों में होती है। इस लड़ाई में ईरानी हुकूमत ने अपने दो लाख तजरिबेकार लड़ाकू और तीन सौ लड़ाके हाथी मुसलमानों के मुक़ाबले में खड़े किए थे। दूसरी तरफ़, इस्लाम के मुजाहिदों की तादाद तीस से चालीस हज़ार के बीच थी। इनमें कुछ मुजाहिदों के साथ उनके बाल-बच्चे भी जिहाद में हिस्सा लेने क़ादसीया आए थे। इस मौक़े पर एक बूढ़ी, कमज़ोर ख़ातून अल्लाह की राह में जिहाद के लिए पूरे शौक़ और जज़्बे से लबरेज़ होकर अपने चार नौजवान बेटों के साथ लड़ाई के मैदान में मौजूद थीं। रात में जब कि हर मुजाहिद आनेवाली सुबह की भयंकर लड़ाई के बारे में सोच-विचार कर रहा था, उस ख़ातून ने अपने चारों बेटों को अपने पास बुलाया और उनसे यूँ कहा—

"मेरे बच्चो! तुम अपनी ख़ुशी से इस्लाम लाए और अपनी ख़ुशी से तुमने हिजरत की। उस अल्लाह की क़सम, जिसके सिवा कोई माबूद (पूज्य) नहीं है! जिस तरह तुम एक माँ की कोख से पैदा हुए, उसी तरह तुम एक बाप की औलाद हो। न मैंने तुम्हारे बाप को धोखा दिया, न तुम्हारे मामू को रुस्वा किया। न तुम्हारे नसब (बाप के वंश) में कोई ख़राबी है, न तुम्हारे हसब (माँ के वंश) में कोई खोट है। ख़ूब समझ लो कि अल्लाह की राह में जिहाद से बढ़कर सवाब का कोई और काम नहीं। आख़िरत की हमेशा रहनेवाली ज़िन्दगी दुनिया की मिट जानेवाली ज़िन्दगी से कहीं बेहतर है। अल्लाह फ़रमाता है—

'ऐ मुसलमानो! सब्र से काम लो और साबित-क़दम रहो

और आपस में मिलकर रहो और अल्लाह से डरो ताकि कामयाबी पाओ।'

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-200)

अगर अल्लाह ने चाहा तो कल सुबह अल्लाह से मदद माँगते हुए, अपने हुनर और तजरिबों के साथ दुश्मन पर टूट पड़ना। और फिर जब तुम यह देखो कि लड़ाई का तन्दूर ख़ूब गरम हो गया और उसके शोले भड़कने लगे तो तुम लड़ाई की उस दहकती भट्टी में कूद जाना और अल्लाह की राह में दीवानावार तलवार चलाना, हो सके तो दुश्मन के सिपाहसालार (सेनापति) पर टूट पड़ना। अगर कामयाब हुए तो बेहतर और अगर शहादत नसीब हुई तो उससे भी बेहतर कि आख़िरत में कामयाबी और इज़्ज़त तुम्हें नसीब होगी।"

चारों बेटों ने एक जबान होकर कहा, "ऐ हमारी मुहतरम माँ! अगर अल्लाह ने चाहा तो हम आपकी उम्मीदों पर पूरे उतरेंगे और आप हमें साबित क़दम पाएँगी।"

अगली सुबह जब लड़ाई छिड़ गई तो ख़ातून के चारों बेटे, अपने-अपने घोड़ों पर सवार, बहादुरी के अशआर पढ़ते हुए एक साथ लड़ाई के मैदान में कूद पड़े।

वे बुज़ुर्ग ख़ातून जिनके चेहरे पर ख़ास तरह का जलाल था, अपने बेटों को लड़ाई के मैदान में भेजकर अल्लाह के आगे झुक गईं और कहने लगीं, "ऐ अल्लाह, मेरी सारी दौलत यही थी जो अब तेरे हवाले है।"

अपनी माँ की नसीहत सुनकर चारों नौजवानों के दिल शहादत

के शौक़ से बेताब थे। अब जो लड़ाई का मौक़ा मिला तो ऐसी बहादुरी से लड़े कि मिसाल क़ायम हो गई। जिधर बढ़ते दुश्मनों का सफ़ाया हो जाता। आख़िर दुश्मनों के सैकड़ों लड़ाकुओं ने उन्हें अपने घेरे में ले लिया। ऐसी हालत में ये सरफ़रोश ज़रा भी न घबराए और दुश्मन के सिपाहियों को ख़ाक और ख़ून में लोटाते हुए ख़ुद भी अल्लाह की राह में शहीद हो गए।

जब उन ख़ातून ने अपने बच्चों की शहादत की ख़बर सुनी तो वे रोने-धोने के बजाय अल्लाह के आगे सज्दे में गिर पड़ीं और कहने लगीं—

> "उस अल्लाह का शुक्र है जिसने मुझे अपने बेटों की शहादत की ख़ुशनसीबी बख़्शी। अल्लाह से उम्मीद है कि क़ियामत के दिन मुझे इन बच्चों के साथ अपनी रहमत के साए में जगह देगा।"

ये कमज़ोर, बूढ़ी ख़ातून जिन्होंने अल्लाह की ख़ुशनूदी के लिए उसकी राह में अपना सब कुछ लुटाकर सब्र व साबित-क़दमी की वह मिसाल क़ायम की कि ज़मीन-आसमान भी दंग रह गए, अरब की महान और मशहूर मरसिया (शोक-गीत, शायरी की एक क़िस्म) कहनेवाली शायरा हज़रत ख़नसा-बिन्ते-अम्र (रज़ि०) थीं।

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) की गिनती बुलन्द मर्तबेवाली सहाबियात में होती है। इनका ताल्लुक़ नजूद के क़बीला बनू-सुलैम से था, जो बनू-क़ैस-बिन-ऐलान की एक शाख़ था। यह क़बीला अपनी शराफ़त, सख़ावत, हिम्मत और बहादुरी की वजह से अरब के क़बीलों में एक विशेष हैसियत रखता था। यहाँ तक कि एक मौक़े पर नबी (सल्ल०) ने इस क़बीले की तारीफ़ करते हुए फ़रमाया—

"बेशक हर क़ौम की एक पनाहगाह होती है और अरब की पनाहगाह क़ैस-बिन-ऐलान है।"

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) का असली नाम तमाज़ुर था।

नसब का सिलसिला यह है : तमाज़ुर-बिन्ते-अम्र-बिन-हारिस-बिन-शरीद-बिन-रबाह-बिन-यक़ज़ा-बिन-उसैया-बिन-ख़ुफ़ाफ़-बिन-इमरुउल-क़ैस-बिन-बहसा-बिन-सुलैम-बिन-मंसूर-बिन-इकरिमा-बिन-हफ़्सा-बिन-क़ैस-बिन-ऐलान-बिन-मुज़र।

तमाज़ुर चूँकि बहुत फुर्तीली, होशियार और ख़ूबसूरत थीं, इसलिए उनका लक़ब ख़नसा पड़ गया, जिसका मतलब हिरनी है।

सीरत-निगारों ने उनकी पैदाइश का साल नहीं लिखा है लेकिन अनुमान है कि वे नबी (सल्ल०) की हिजरत से पचास साल पहले पैदा हुई थीं। उनका बाप अम्र, बनू-सुलैम का रईस था। वह इज़्ज़तदार और दौलतमन्द होने की वजह से अपने क़बीले में बड़ा असर रखता था। उसने अपनी औलाद, ख़नसा (रज़ि०) और उनके भाइयों मुआविया और सख़्र की परवरिश बड़े लाड-प्यार से की। यहाँ तक कि उनकी औलाद बड़ी होकर नेक और अच्छी ख़ूबियोंवाली निकली।

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) बचपन से ही शेर और शायरी का शौक़ रखती थीं। छोटी उम्र में ही कभी-कभी दो-चार शेर कह लिया करती थीं। फिर जैसे-जैसे वे बड़ी होती गईं उनकी यह सलाहियत (प्रतिभा) निखरती गई, यहाँ तक कि वे आगे चलकर एक मशहूर मरसिया (शोक-गीत, शायरी की एक क़िस्म जिसमें मरनेवाले की ख़ूबियों को बयान करते हैं) कहनेवाली शायरा के तौर पर मशहूर हुईं।

जवानी की उम्र तक पहुँचने से पहले ही उनके मेहरबान बाप का इन्तिक़ाल हो गया। ख़नसा (रज़ि०) के लिए यह सदमा बड़ा दुखदाई था, लेकिन उनके दोनों भाइयों मुआविया और सख़्र ने ऐसी मुहब्बत और हमदर्दी के साथ उनकी सरपरस्ती की कि वे बाप का ग़म भूल गईं। अब उनकी सारी मुहब्बत और अक़ीदत दोनों भाईयों के लिए थी। वे उनसे टूटकर मुहब्बत करती थीं और उनको देख-देखकर जीती थीं।

उसी ज़माने में बनू-हवाज़िन के मशहूर घुड़सवार, शायर और रईस दुरैद-बिन-सिम्मा ने ख़नसा (रज़ि०) को उनके भाई मुआविया के ज़रिए शादी का पैग़ाम भेजा। ख़नसा (रज़ि०) ने किसी वजह से यह पैग़ाम क़बूल करने से इनकार कर दिया। कुछ सीरत-निगारों ने लिखा है कि दुरैद बड़ी उम्र का आदमी था और उसकी सूरत-शक्ल भी कुछ ऐसी पसन्दीदा न थी, इसलिए ख़नसा (रज़ि०) ने उसे नापसन्द किया और उसके ख़िलाफ़ कुछ ऐसे अशआर भी कहे जिसमें दुरैद और उनके क़बीले की चर्चा व्यंगात्मक रूप से की।

फिर हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने अपने क़बीले के एक नौजवान अब्दुल-उज़्ज़ा या इब्ने-क़ुतैबा की रिवायत के मुताबिक़ रवाहा-बिन-अब्दुल-उज़्ज़ा से शादी की। उससे हज़रत ख़नसा (रज़ि०) का एक बेटा हुआ, जिसका नाम अबू-शजरा अब्दुल्लाह था। अब्दुल-उज़्ज़ा का जल्द ही इन्तिक़ाल हो गया। उसके बाद हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने बनू-सुलैम के ही एक दूसरे शख़्स मिरदास-बिन-अबू-आमिर से निकाह कर लिया। इससे उनके तीन बेटे अम्र, ज़ैद और मुआविया पैदा हुए। इब्ने-हज़्म की रिवायत के मुताबिक़ इनके बेटों का नाम हुबैरा, जज़्अ और मुआविया थे। फिर एक बेटी पैदा हुई जिसका नाम अमरा था।

मिरदास एक बहादुर और हिम्मतवाला आदमी था, उसने अपने कुछ साथियों की मदद से नहर के क़रीब की एक दलदली ज़मीन को खेती के क़ाबिल बनाने की कोशिश की। लेकिन वहाँ के मौसम का उसकी सेहत पर बहुत ख़राब असर पड़ा और बुख़ार से पीड़ित होकर उसका इन्तिक़ाल हो गया।

उसके बाद ख़नसा (रज़ि०) ने अपनी सारी ज़िन्दगी बेवगी (विधवापन) में ही गुज़ारी। उनके भाइयों, मुआविया और सख़्र ने बहन का ख़याल रखने में कोई कसर न उठा रखी थी। वे बड़े सब्र और हौसले के साथ अपने बच्चों की परवरिश और तरबियत करती रहीं। उस ज़माने में वे अपने शायरी के शौक़ को भी पूरा करती रहती थीं। लेकिन अभी उनकी नामवरी महदूद थी।

जिस घटना ने उनकी ज़िन्दगी की धारा ही बदल दी और उनकी शायरी में बला की तड़प पैदा कर दी, वह उनके दोनों प्यारे भाइयों का एक के बाद एक दुनिया से गुज़र जाना था।

सीरत-निगारों ने यह घटना इस तरह बयान की है कि ख़नसा (रज़ि०) के भाई मुआविया का 'उकाज़' के मेले में बनू-मुर्रा के एक शख़्स हाशिम-बिन-हरमला से झगड़ा हो गया था। उसने हाशिम से बदला लेने के लिए अपने अट्ठारह साथियों के साथ मुर्रा क़बीले पर हमला कर दिया, लेकिन लड़ाई में हाशिम के भाई दुरैद ने उसे क़त्ल कर दिया।

इसके बाद सख़्र ने अपने भाई मुआविया के क़त्ल का बदला लेने की क़सम खाई और मौक़ा मिलते ही दुरैद को क़त्ल कर दिया और उसके एक सुलैमी साथी ने दुरैद के भाई हाशिम-बिन-हरमला को मौत के घाट उतार दिया। फिर भी सख़्र के अन्दर बदले की

भड़कती हुई आग ठंडी न हुई और वह बनू-मुर्रा पर बराबर हमले करता रहा। इसी कशमकश में बनू-मुर्रा के दोस्त क़बीला बनू-असद के एक आदमी फ़क़अस ने सख़्र को बुरी तरह ज़ख़्मी कर दिया और वह कई महीने तक अपने ख़ेमे में जख़्मों से चूर पड़ा रहा। हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने जी-जान से महबूब भाई की देखभाल और तीमारदारी की लेकिन वह बच न सका। सख़्र बड़ा बहादुर, अक़्लमन्द और ख़ूबसूरत जवान था। हज़रत ख़नसा (रज़ि०) को उसकी मौत से बहुत सदमा पहुँचा। उनके दिल में एक आग-सी भड़क उठी, जिसने बड़े दर्दनाक मरसियों की शक्ल इख़्तियार कर ली। उन्होंने सख़्र की जुदाई में दिल को तड़पा देनेवाले ऐसे-ऐसे मरसिये कहे कि सुननेवालों की आँखें आँसू से भर जातीं। इन मरसियों ने उन्हें सारे अरब में मशहूर कर दिया। साधारण लोग ही नहीं बल्कि अरब के बड़े-बड़े शायर भी उनका लोहा मान गए। उन्होंने सख़्र की याद में जो मरसिये कहे उनके कुछ अशआर का तर्जमा यह है–

"ऐ मेरी आँखो, ख़ूब आँसू बहाओ और हरगिज़ न रुको

क्या तुम सख़्र जैसे सख़ी (दानी) पर नहीं रोओगी?

क्या तुम उस शख़्स पर नहीं रोओगी जो बड़ा बहादुर और ख़ूबसूरत जवान था?

क्या तुम उस सरदार पर नहीं रोओगी जिसका क़द ऊँचा और परतला (ऐसी पेटी जो तलवार बाँधने के लिए कँधे पर डालते हैं) बड़ा लम्बा था?

जो कमसिनी ही में अपने क़बीले का सरदार बन गया।

क़ौम ने उसकी तरफ़ हाथ बढ़ा दिए, तो उसने भी अपने

हाथ बढ़ा दिए।

और उन बुलन्दियों को पहुँच गया जो लोगों के हाथों से भी बुलन्द थीं।

और उसी इज़्ज़त और अज़मत की हालत में इस दुनिया से रुख़सत हुआ।

बुज़ुर्गी उसके घर का रास्ता दिखाती है।

अगर शराफ़त और इज़्ज़त का ज़िक्र आए तो देखोगे कि,

सख़्र ने इज़्ज़त की चादर ओढ़ ली है।

सख़्र की बड़े-बड़े लोग पैरवी करते हैं जैसे कि वह एक पहाड़ है,

जिसकी चोटी पर आग रौशन है।

इस मरसिये के आख़िरी शेर में वह असर था कि सुननेवाले दाँतों तले उँगलियाँ दबा लेते थे।

दुर्रे-मंसूर में है कि हज़रत ख़नसा (रज़ि०) सख़्र की क़ब्र पर सुबह-शाम जाकर इसी तरह के दर्दनाक अशआर पढ़ा करती और फूट-फूटकर रोया करती थीं।

"सूरज जब निकलता है तो मुझे सख़्र की याद दिलाता है,

और इसी तरह सूरज के डूबते वक़्त भी मुझे उसकी याद आती है।

अगर मेरे आसपास अपने मरे हुओं पर रोनेवाले बहुत न होते,

तो मैं अपने आपको हलाक कर डालती।

ऐ सख़्र! तूने अब मेरी आँखों को रुलाया है,

तो (क्या हुआ इससे पहले) एक लम्बी मुद्दत तक तुम मुझे हँसाते भी तो रहे हो।

तुम ज़िन्दा थे तो तुम्हारे ज़रिए से मैं आफ़तों और बलाओं को दूर कर लेती थी,

अफ़सोस कि अब कौन इस बड़ी मुसीबत को दूर करेगा।

कुछ क़त्ल होनेवालों पर रोना अच्छा नहीं लगता,

लेकिन तुझपर रोना बेहद क़ाबिले-तारीफ़ है।

जाहिलियत के ज़ामने में अरब के लोग रबीउल-अव्वल से ज़ी-क़ादा के महीने तक बड़ी धूम-धाम से मेले लगाया करते थे। उकाज़ के बाज़ार का मेला इनमें सबसे ज़्यादा मशहूर था। इस मेले में अरब क़बीलों के सारे रईस और हर तरह के हुनरमन्द शामिल होते। क़बीलों के सरदार चुने जाते और आपसी झगड़ों के फ़ैसले किए जाते। इस तरह इस मेले की बड़ी अहमियत थी। अरब के कोने-कोने से हर छोटा-बड़ा शायर इसमें शरीक होता और लोगों को अपना कलाम सुनाता। हज़रत ख़नसा (रज़ि०) भी हर साल उकाज़ के बाज़ार के इस मेले में शरीक होतीं। जब ये आतीं तो लोग हर तरफ़ से टूट पड़ते और इनके ऊँट के चारों तरफ़ घेरा डालकर मरसिया सुनाने की फ़रमाइश करते। जब वे मरसिया पढ़तीं तो सुननेवाले दुख-दर्द से बेताब हो जाते और दहाड़ें मार-मारकर रोते। और ये सुननेवाले कौन होते थे? बड़े पत्थर-दिल, भयानक, लड़ाकू बद्दू जिनके लिए किसी को क़त्ल कर देना बस एक खेल था। हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के अशआर सुनकर उनके दिल पिघल जाते और उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती। ये आँसू

उनके अन्दर छिपी इनसानियत की भावना को जगाने की वजह बनते।

उकाज़ के बाज़ार में उनके ख़ेमे के दरवाज़े पर एक झण्डा लगा होता, और उसपर ये लफ़्ज़ लिखे होते,

"ख़नसा— अरब की सबसे बड़ी मरसिया कहनेवाली।"

उकाज़ के बाज़ार में अरब का अज़ीम शायर नाबिग़ा ज़ुबियानी भी आया करता था। उसके लिए लाल रंग का ख़ेमा लगाया जाता था जो सारे मेले में बेजोड़ होता, इसलिए कि वह अपने ज़माने के शायरों में माना हुआ उस्ताद कहा जाता था। बड़े-बड़े नामी शायर उसे अपना कलाम सुनाने में गर्व महसूस करते थे। जब ख़नसा (रज़ि०) पहली बार उकाज़ के बाज़ार में आईं और अपने अशआर नाबिग़ा को सुनाए तो वह बेइख़्तियार कह उठा।

> "सचमुच तू औरतों में बड़ी शायरा है, अगर इससे पहले मैं अबू-बसीर (आशा) का कलाम न सुन लेता तो तुझको इस ज़माने के सभी शायरों से बुलन्द दर्जा देता और कह देता कि तू जिन्नों और इनसानों में सबसे बड़ी शायरा है।"[1]

---

[1] कहा जाता है कि इस मौक़े पर हस्सान-बिन-साबित (रज़ि०) भी मौजूद थे। जाहिलियत के ज़माने में उनकी गिनती भी चोटी के शायरों में होती थी और इस्लाम लाने के बाद उन्हें "मद्दाहे-रसूल" (रसूल के प्रशंसक) और दरबारे-नुबूवत के शायर की हैसियत से जो इज़्ज़त और बुलन्दी हासिल हुई उसे बयान करने की ज़रूरत नहीं। यह वाक़िआ उनकी ज़िन्दगी के जाहिली दौर से ताल्लुक़ रखता है। नाबिग़ा के मुँह से ख़नसा (रज़ि०) की तारीफ़ सुनकर वे गुस्से में बिफर उठे और कड़ककर बोले, "तू ने ग़लत कहा, मेरे शेर ख़नसा से ज़्यादा अच्छे हैं। नाबिग़ा ने जवाब देने के बजाय ख़नसा की तरफ़ देखा। ख़नसा (रज़ि०) ने हस्सान (रज़ि०)

धीरे-धीरे ख़नसा (रज़ि०) की बुलन्द दर्जा शायरी की चर्चा सारे अरब में फैल गई और न सिर्फ़ उस ज़माने के, बल्कि बाद के शायरों ने भी उनकी बड़ाई को मान लिया। हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के शेर की शैली में सादगी, दिलकशी और गहरा असर है। गर्व ज़ाहिर करनेवाले शेर कहने और मरसिया में कोई मुश्किल से ही उनकी बराबरी का दावा कर सकता है।

अल्लामा इब्ने-असीर (रह०) का बयान है–

"शायरी की कला के विद्वानों का यह मानना है कि कोई भी औरत शायरी में ख़नसा (रज़ि०) के बराबर नहीं हुई, न उनसे पहले न उनके बाद।"

लैला अख़्यीलीया को अपने ज़माने की सबसे बड़ी अरब शायरा माना गया है, लेकिन इब्ने-क़ुतैबा कहते हैं–

"लैला अख़्यीलीया औरतों में सबसे बड़ी शायरा हैं, मगर ख़नसा (रज़ि०) उससे भी बेहतर हैं।"

बनू-उमैया के ज़माने के मशहूर शायर जरीर से एक बार लोगों ने पूछा, "सबसे बड़ा शायर कौन है?" उसने जवाब दिया, "अगर ख़नसा न होती तो मैं ही सबसे बड़ा शायर था।"

बश्शार-बिन-बर्द न सिर्फ़ ख़ुद एक बहुत बड़ा शायर था बल्कि

से पूछा, "तुम्हें अपने क़सीदे के किस शेर पर सबसे ज़्यादा नाज़ है? हस्सान (रज़ि०) ने यह शेर पढ़ाः

"हमारे पास बड़े-बड़े साफ़ चमकीले बरतन हैं, जो चाश्त के वक़्त चमकते हैं
और हमारी तलवारें बुलन्दी से ख़ून टपकाती हैं।"

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने इस शेर में फ़ौरन सात-आठ कमियाँ निकाल दीं। इस शेर में वे कमियाँ मौजूद थीं इसलिए हज़रत हस्सान (रज़ि०) ख़नसा (रज़ि०) के एतिराज़ सुनकर ख़ामोश हो गए।

शायरी की कला का माहिर भी था। वह कहा करता था कि औरतों के कलाम में कोई-न-कोई कमी ज़रूर होती है। लोगों ने पूछा कि "क्या ख़नसा के कलाम में भी ग़लतियाँ हैं?" उसने जवाब दिया, "वह तो मर्दों से भी बढ़ गई है।"

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) बयान करते हैं कि बनू-उमैया के ज़माने का मशहूर शायर अख़तल (जो अपनी शाइराना सलाहियतों की बदौलत नाबिग़ा ज़ुबियानी के बराबर शुमार होता है) एक बार अब्दुल-मलिक-बिन-मरवान के दरबार में गया और उसकी तारीफ़ में अपना कलाम पेश करने की इजाज़त चाही। अब्दुल-मलिक शायरी की कला से अच्छी तरह परिचित था। उसने जवाब दिया, "अगर तुम मेरी उपमा शेर और साँप से देना चाहते हो तो मैं तुम्हारा कलाम नहीं सुनूँगा, लेकिन अगर तुम ख़नसा (रज़ि०) के कलाम जैसे अशआर सुनाना चाहते हो तो सुनाओ।"

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) बुढ़ापे की उम्र को पहुँच रही थीं कि फ़ारान नामी पहाड़ की चोटियों से रिसालत का सूरज निकला और उसकी किरणों से अरब का कोना-कोना जगमगाने लगा। लेकिन अफ़सोस कि मक्कावालों में से ज़्यादातर लोगों ने हिदायत की इस रौशनी से अपनी आँखें मूँद लीं और हक़ के चिराग़ को फूँकों से बुझाने में कोई कसर न छोड़ी। यह चिराग़ जिसे ख़ुद अल्लाह ने रौशन किया था, इन फूकों से क्या बुझता! अलबत्ता अपनी करतूतों की वजह से वे उसकी बरकतों से महरूम रह गए।

दूसरी तरफ़ तीन सौ मील दूर यसरिबवालों के नसीब में यह भलाई और बरकत लिखी थी कि उन्होंने ईमान की क़ीमती दौलत पाने के लिए अपने दिल के दरवाज़े खोल दिए और अपनी जान और माल को नबी (सल्ल०) के क़दमों में न्योछावर कर डाला। नबी

(सल्ल०) के तशरीफ़ लाने से यह यसरिब मदीनतुन-नबी और इस्लाम का मर्कज़ (केन्द्र) बन गया। फिर यहाँ से इस्लाम का पैग़ाम धीरे-धीरे अरब के पास-पड़ोस और दूर-दूर के इलाक़ों में फैलने लगा।

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के कानों में भी इस पैग़ाम की भनक पड़ी। अल्लाह ने उन्हें नेकी और भलाई को पसन्द करनेवाला बनाया था। यह पैग़ाम सुनते ही उनके दिल और दिमाग़ की दुनिया बदल गई। अपने क़बीले के कुछ लोगों को साथ लेकर सफ़र करते हुए मदीना पहुँचीं और नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर होकर इस्लाम की दौलत से माला-माल हो गईं।

अल्लामा इब्ने-असीर और हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) ने लिखा है कि इस मौक़े पर नबी (सल्ल०) बहुत देर तक उनका कलाम सुनते रहे। वे सुनाती जाती थीं और नबी (सल्ल०) फ़रमाते जाते थे, "शाबाश ऐ ख़नसा!"

इस्लाम क़बूल कर लेने के बाद वे अपने क़बीले में वापस तशरीफ़ ले गईं और लोगों को इस्लाम क़बूल करने की दावत दी। उनकी ज़बान में बड़ा असर था, बहुत सारे लोगों ने उनके समझाने से इस्लाम क़बूल कर लिया। इसके बाद अक्सर मदीना आया करतीं और नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर होकर भलाई और बरकतें समेटने का सौभाग्य प्राप्त करतीं।

इस्लाम क़बूल करने के बाद भी हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के दिल से उनके प्यारे भाइयों, ख़ासकर सख़्र की याद न मिट सकी। वे जाहिलियत के तरीक़े के मुताबिक़ सख़्र के सोग में हमेशा अपने सिर पर बालों का एक गुच्छा या सरबन्द बाँधे रहती थीं। अल्लामा

इब्ने-असीर (रह०) का बयान है कि एक बार हज़रत उमर (रज़ि०) ने देखा कि हज़रत ख़नसा (रज़ि०) काबा का तवाफ़ कर रहीं हैं और सिर पर सोग की पहचान के तौर पर सरबन्द बाँध रखा है। हज़रत उमर (रज़ि०) ने उन्हें समझाया कि इस्लाम इस तरह के सोग की इजाज़त नहीं देता। हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने कहा—

"ऐ अमीरुल-मोमिनीन, किसी औरत पर ग़म का ऐसा पहाड़ न टूटा होगा, मैं इसे कैसे बरदाश्त करूँ!"

हज़रत उमर (रज़ि०) ने उन्हें तसल्ली देते हुए फ़रमाया—

"इस दुनिया में लोगों पर इससे भी बड़ी मुसीबतें आती हैं, ज़रा उनके दिलों में झाँककर देखो! जिस काम से इस्लाम ने रोका है उसे करना गुनाह है।"

इसके बाद ख़नसा (रज़ि०) ने सोग की निशानी छोड़ दी, लेकिन सख़्र को भुलाना उनके बस में नहीं था। उसकी याद में उनका रोना-धोना बराबर जारी रहा, लेकिन अब उसका अन्दाज़ बदल गया। कहा जाता है कि वे इस्लाम क़बूल करने के बाद इस तरह के शेर पढ़ा करती थीं।

"पहले तो मैं सख़्र का बदला लेने के लिए रोया करती थी। और अब इसलिए रोती हूँ कि वह क़त्ल हो गया और इस्लाम न ला सका और अब जहन्नम में जलता होगा।"

हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) बयान करते हैं कि हज़रत ख़नसा (रज़ि०) कभी-कभी उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आइशा (रज़ि०) की ख़िदमत में हाज़िर होती थीं। उनके सिर पर हमेशा बालों का एक गुच्छा बँधा होता, जो अरब में ग़म और दुख की निशानी समझा जाता था। एक बार हज़रत आइशा (रज़ि०) ने फ़रमाया, "इस तरह

का सरबन्ध बाँधकर सोग मनाना इस्लाम में मना है।"

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने जवाब दिया, "उम्मुल-मोमिनीन, यह सरबन्द बाँधने की एक ख़ास वजह है।"

हज़रत आइशा (रज़ि०) ने पूछा, "वह क्या?"

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने कहा, "उम्मुल-मोमिनीन, मेरा शौहर बड़ा फ़ुज़ूल ख़र्च और जुआरी था। उसने अपनी सारी दौलत जुए में गँवा दी और हम दाने-दाने को मुहताज हो गए। जब मेरे भाई सख़र को मेरी हालत का पता चला तो उसने अपनी सारी दौलत का बेहतरीन आधा हिस्सा मुझे दे दिया। जब मेरे शौहर ने उसे भी लुटा दिया तो मेरे भाई ने अपने बाक़ी माल का बेहतरीन आधा हिस्सा भी मुझे दे दिया। सख़र की बीवी ने इसपर एतिराज़ किया कि तुम अपने माल का बेहतरीन आधा हिस्सा अपनी बहन को दे देते हो और उसका शौहर उसे जुए में लुटा देता है, यह सिलसिला आख़िर कब तक चलेगा?"

मेरे भाई ने जवाब दिया, "ख़ुदा की क़सम, मैं अपनी बहन को अपने माल का ख़राब हिस्सा नहीं दूँगा। वह पाकदामन है और मेरे लिए यह ज़रूरी है कि मैं उसकी इज़्ज़त का ख़याल रखूँ। अगर मैं मर जाऊँगा तो वह मेरे ग़म में अपनी ओढ़नी फाड़ डालेगी और मेरे सोग में अपने सर पर बालों का सरबन्द बाँधेगी। इसलिए मैं यह सरबन्द अपने बहादुर और सख़ी भाई की याद में बाँधती हूँ।"

फिर हज़रत उमर (रज़ि०) या हज़रत आइशा (रज़ि०) के समझाने से उन्होंने यह सरबन्द बाँधना छोड़ दिया और अल्लाह की मरज़ी पर राज़ी हो गईं।

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) की ज़िन्दगी की सबसे उल्लेखनीय

घटना वह है जिसमें वे अपने चारों बेटों के साथ क़ादसीया की लड़ाई में शरीक हुईं। यह घटना ऊपर बयान की जा चुकी है। ये चारों बच्चे उनके बुढ़ापे का सहारा थे, (कुछ सीरत-निगारों के बयान के मुताबिक़ ग़म के आँसू बहाते-बहाते उनकी आँखों की रौशनी ख़त्म हो चुकी थी) लेकिन जब उन्हें अपने चारों बेटों की शहादत की ख़बर मिली तो हाय-हाय के बदले उनके मुँह से यह निकला—

"उस अल्लाह का शुक्र है जिसने उनके ख़ुदा की राह में शहीद होने की ख़ुशनसीबी बख़्शी!"

यह लफ़्ज़ उनके मज़बूत ईमान, सब्र और अल्लाह की रिज़ा पर राज़ी रहने का सुबूत हैं।

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के ये बेटे क़ादसीया की लड़ाई से पहले कई दूसरी लड़ाइयों में भी बहादुरी के जौहर दिखा चुके थे और हुकूमत की तरफ़ से हर एक के नाम दो सौ दिरहम सालाना वज़ीफ़ा मुक़र्रर था। उनकी शहादत के बाद हज़रत उमर (रज़ि०) ने वह वज़ीफ़ा हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के नाम कर दिया। एक रिवायत के मुताबिक़ इस बुलन्द मर्तबेवाली ख़ातून का इन्तिक़ाल क़ादसीया की लड़ाई के सात-आठ साल बाद सन् 24 हिजरी में हुआ।

एक दूसरी रिवायत के मुताबिक़ उनका इन्तिक़ाल अमीर मुआविया (रज़ि०) की हुकूमत के ज़माने में हुआ।

मौलाना सईद अंसारी का बयान है कि हज़रत ख़नसा (रज़ि०) का भारी-भरकम दीवान टिप्पणी सहित सन् 1888 ई० में बेरूत से छपा। इसमें हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के अलावा साठ दूसरी औरतों के कहे हुए मरसिये भी शामिल हैं। सन् 1889 ई० में इसका अनुवाद फ़्रांसीसी भाषा में हुआ और फिर उसका दूसरा एडीशन छपा।

मौलाना मुहम्मद नईम नदवी सिद्दीक़ी (आज़मगढ़) ने अपने एक लेख में लिखा है कि हज़रत ख़नसा (रज़ि०) के दीवान की टिप्पणी एक ईसाई "लुइस शैख़ू यसूई" ने "अनीसुल-जुलसा" के नाम से लिखी थी। यह टिप्पणी प्रकाशन कातूलीकिया बेरूत से सन् 1896 ई० में छपी। इसे दीवाने-ख़नसा (रज़ि०) के छः पुराने क़लमी नुस्ख़ों से पूरी शुद्धता के साथ मुरत्तब (संकलित) किया गया है। इसके शुरू में एक आला दर्जे का मुक़द्दमा (भूमिका) बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है जो उस दीवान के बजाय ख़ुद एक ख़ास चीज़ है। (माहनामाः फ़ारान, कराची, जुलाई 1967 इ०)

हज़रत ख़नसा (रज़ि०) से कोई हदीस रिवायत नहीं की गई है, लेकिन उनकी गिनती बुलन्द मर्तबा सहाबियात में होती है। आख़िर जिनकी शायरी की ख़ुद नबी करीम (सल्ल०) ने तारीफ़ फ़रमाई हो, उनके इल्म और मर्तबे में किसे शक हो सकता है? और फिर हज़रत ख़नसा (रज़ि०) ने अल्लाह की राह में अपने जिगर के टुकड़ों की शहादत पर जिस तरह सब्र और साबित-क़दमी का मुज़ाहिरा (प्रदर्शन) किया, उसने बेशक उनका नाम क़ियामत तक दुनिया में क़ायम रहने का हक़दार बना दिया। मुस्लिम समाज अगर हमेशा उनपर नाज़ करता रहे तो बेशक वे उसकी हक़दार हैं।

हज़रत उमैया ग़िफ़ारिया (रज़ि०)

हज़रत उमैया ग़िफ़ारिया (रज़ि०) का ताल्लुक़ बनू-ग़िफ़ार से था।

मदारिजुन-नुबूवह में है कि जब नबी (सल्ल०) ने ख़ैबर की लड़ाई का इरादा किया तो वे नबी (सल्ल०) की ख़िदमत में हाज़िर हुईं और कहा—

"ऐ अल्लाह के रसूल! हम चाहते हैं कि आपके साथ जिहाद के मैदान में जाएँ, ज़ख़्मियों का इलाज करें और हर तरह से मुजाहिदों की मदद करें।"

नबी (सल्ल०) ने उनकी दरख़ास्त मंज़ूर कर ली और वे बहुत-सी औरतों को साथ लेकर जिहाद में शरीक हुईं।

समाप्त